2·5

स्मारक समितिका निवेदन

श्रीभारतधर्ममहामण्डल, श्रीआर्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्, गङ्गामाया ट्रूस्ट, विश्वेश्वर ट्रूस्टआदि अनेक संस्थाओंके संस्थापक, अनेक मौलिक धार्मिक दुर्लभ धार्मिक ग्रन्थोंके प्रणेता, लुप्त दर्शनोंके आविष्कर्त्ता एवं अनेक दर्शनोंके भाष्यकार, श्रीमद्भगवद्गीता, दुर्गासप्तशती एवं उपनिषदोंके टीकाकार, अनन्त श्रीविभूषित भगवत्पूज्यपाद योगिराज महर्षि स्वामी श्रीज्ञानानन्दजी महाराज प्रभु एक लोकोत्तर महापुरुष थे। धर्मके उत्थानकेलिये ही उनका आविर्भाव हुआ था। उनके सभी कार्य लोकोत्तर तथा विलक्षण थे। उन्होंने अपनेद्वारा प्रणीत किसी ग्रन्थमें अपना नाम नहीं दिया। कभी किसी सार्वजनिक सभामें वे जाते नहीं थे, भाषण देनेका कोई प्रश्न ही नहीं था, कभी कोई प्रवचन भी नहीं करते थे; श्रीमहामण्डलके बड़े-बड़े अधिवेशन उन्होंने करवाये, परन्तु वे स्वयं उनमें उपस्थित नहीं हुए। उन्होंने कभी अपने करकमलोंसे लेखनी नहीं उठायी, परन्तु अनेक ग्रन्थोंका निर्माण किया। ये सब ग्रन्थ उनके श्रीमुखसे निःसृत वाणीसे उनके शिष्यों एवं भक्तोंद्वारा लेखनीबद्ध किये गये। शास्त्र उनकी वाणीका अनुसरण करते थे। जो कुछ उनके श्रीमुखसे निकलता—वही शास्त्र था। वे बड़े-बड़े विद्वानोंकी शास्त्र सम्बन्धी गुत्थियोंको सुलझाते थे। उनकी प्रतिभा अगाध थी, उनकी बुद्धि शास्त्रोंमें अबाधगतिसे चलती थी। बड़े-बड़े विद्वानोंका उन्होंने सृजन किया। इन्हींमें अनन्त श्रीविभूषित स्वामी दयानन्दजी महाराज, स्वामी विवेकानन्दजी महाराज, परमहंस योगानन्दजी महाराज, स्वामी विद्यानन्दजी महाराज, पं० गंगाविष्णु शास्त्री, पं० गणेशदत्त शास्त्री, पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री, पं० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर, पं० रामगोविन्द त्रिवेदीआदि थे। पूज्यपाद अपने पास कोई सम्पत्ति नहीं रखते थे; उन्होंने कोई मठ नहीं बनाया। यहाँ तक कि वे सिक्का नहीं पहचानते थे। उनके भक्तों एवं शिष्योंने आग्रह करके जो कुछ भेंटमें दिया, वह उन्होंने अपनेद्वारा स्थापित संस्थाओंको दे दिया, ट्रूस्ट बना दिया।

उनके अलौकिक व्यक्तित्वमें अद्भुत आकर्षण था, निराली छटा थी, उनकी जटाओंकी लम्बाई नौ फीट एवं दाढ़ीके केशोंकी लम्बाई सात फीट थी, जिनको वे प्रायः बाँधे रखते थे। उनकी पीयूषपूरित वाणी दर्शनार्थियोंके पाप तापका

शमन करती थी। इसीकारण महान् शक्तिशाली ऐश्वर्यशाली अभिमानी स्वतन्त्र नरपतिगण भी उनके दर्शनोंसे मोहित होते थे। उनमेंसे अनेकने उनसे दीक्षा लेकर शिष्यत्व स्वीकार करके अपनेको कृतार्थ माना। यद्यपि पूज्यपाद बहुत जाँच-परखकर बहुत थोड़े लोगोंको जिनको वे स्वयं अधिकारी समझते थे, दीक्षा देते थे। शिष्य समुदाय बढ़ानेकी उनमें प्रवृत्ति नहीं थी। उन्होंने एक सौ पाँच वर्षोंतक मानव जातिके धार्मिक उत्थानकेलिये सतत प्रयत्न किया।

पूज्यपाद गुरुदेवने दार्शनिक जगत्में महान् क्रान्ति की। हमारे शास्त्रोंमें सात ज्ञानभूमियोंका वर्णन प्राप्त होता है, उनकेअनुसार दर्शन सात होने चाहिये थे; परन्तु शताब्दियोंसे षट्दर्शन ही प्रसिद्ध थे, भक्ति एवं उपासना सम्बन्धी दर्शन लुप्त हो गया था, दूसरीओर महर्षि जैमिनि प्रणीत कर्ममीमांसा दर्शन उपलब्ध था, उसमें केवल वैदिक महा-यागोंके वर्णन हैं, कर्मविज्ञान, कर्म रहस्य सम्बन्धी कोई ज्ञान उसमें उपलब्ध नहीं था। पूज्यपाद गुरुदेव प्रभुने इस कमीको अनुभव किया, एवं उनको समाधियोगसे यह विदित हुआ कि, महर्षि जैमिनिकृत कर्ममीमांसा दर्शन केवल उत्तरार्ध है, इसका पूर्वार्ध लुप्त हो गया है। इसीप्रकार उनको यह भी अनुभव हुआ कि, भक्ति एवं उपासना सम्बन्धी छठा दर्शन लुप्त हो गया है। अतः उन्होंने भक्तिके आचार्य महर्षि अङ्गिरासे भक्तिका दर्शन दैवी-मीमांसा दर्शन नामसे प्राप्त किया, एवं महर्षि भरद्वाजसे कर्ममीमांसा दर्शनका पूर्वार्ध प्राप्त किया। इन दोनों दर्शनोंके विस्तृत भाष्यके प्रणयन उन्होंने किये। ये दोनों दर्शन श्रीभारतधर्म-महामण्डलके शास्त्रप्रकाश विभागसे छपकर प्रकाशित हो चुके हैं। महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनपर भी पूज्यपादने सरल भाष्य लिखकर उस कठिन ग्रन्थको जिज्ञासुओंकेलिये सुबोध एवं सुगम बना दिया है। इसप्रकार दार्शनिक जगत्का महान् अभाव उन्होंने दूर किया। इसीप्रकार उपासकोंकी सुविधाकेलिये पञ्चोपासनाकी पाँच गीतायें,—विष्णुगीता, धीशगीता, सूर्यगीता, शम्भुगीता एवं शक्तिगीता, गुरुदेवके स्वरूप एवं महिमा जाननेके लिये गुरुगीता, संन्यासियोंकेलिये संन्यासगीता ये सप्त गीतायें पूज्यपादकी अभिनव कृतियाँ हैं। योगशास्त्रसे सम्बन्धित मन्त्रयोग संहिता, हठयोग संहिता, लययोग संहिता एवं राजयोग संहिताओंका निर्माणकर पूज्यपादने योगके जिज्ञासुओंका अनन्त उपकार किया है।

इनके अतिरिक्त धर्म कल्पद्रुम नामक ग्रन्थ सनातन धर्मका विश्वकोष ही है, जिसको पूज्यपादके आदेशसे उनके सुयोग्य शिष्य स्वामी दयानन्दजी महाराजने लिखा है। यह भी अपने ढङ्गका अद्वितीय ग्रन्थ है। पूज्यपादकेद्वारा आविष्कृत

एवं प्रणीत ये दार्शनिक एवं धार्मिक ग्रन्थ वर्तमान समयमें बेजोड़ हैं। इन ग्रन्थोंके अध्ययनसे अब भी सनातन धर्मके मर्मज्ञ बड़े-बड़े विद्वान् उत्पन्न हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त धर्म शिक्षाकेलिये अंग्रेजी, बंगाली एवं हिन्दी भाषाओंमें अनेक मौलिक ग्रन्थ पूज्यपादद्वारा प्रणीत हुए है। ये सभी ग्रन्थ अपने ढङ्गके अद्वितीय हैं। पूज्यपाद आदेश देते थे कि, ये ग्रन्थ कलियुगके अन्ततक मानव जातिका मार्गप्रदर्शन करते रहेंगे।

उन पूज्यपाद महाप्रभुका तिरोभाव माघ कृष्ण पञ्चमी सम्वत् २००८ में हुआ था। यद्यपि अपनी कृतियोंमें वे सदा विराजमान हैं, तथापि उनकी प्रेरणाप्रद पुराण स्मृतिको सदा नवीन रखनेकेलिये उनका समुचित स्मारक बनानेका निश्चय किया गया और इस उद्देश्यकी पूर्तिकेलिये उसी समय देशके विशिष्ट सज्जनोंकी महाराजाधिराज कामेश्वरसिंह दरभङ्गाके सभापतित्वमें एक स्मारक समिति गठितकी गयी थी तथा समितिके सदस्योंके हस्ताक्षरसे एक निवेदन पत्र भी प्रकाशित हुआ। समितिके कार्य बड़े जटिल थे एवं उसके सामने बड़ी समस्यायें थीं।

हमें यहाँ देशके समस्त सनातनधर्मी बन्धुओं एवं पूज्यपाद गुरुदेव प्रभुके भक्तोंको यह सूचित करते हुए हर्षका अनुभव हो रहा है कि, इस समितिने अपने कर्तव्यको भली-भाँति पूरा किया है। पूज्यपादकी इच्छा भगवती ब्रह्ममयी गायत्री-देवीका मन्दिर निर्माण करानेकी थी। अतः उन्हींकेद्वारा भेंटमें गुरुदक्षिणामें प्राप्त धनराशिसे स्थापित महामाया ट्रस्टका यह प्रथम उद्देश्य उन्होंने रखा था, परन्तु विविध बाधाओंके कारण वे जैसा चाहते थे, मन्दिरका निर्माण नहीं हो सका। अतः उन्होंने श्रीभारत धर्म महामण्डलके प्रसिद्ध यज्ञमण्डपमें एक छोटा-सा मन्दिर निर्मित कराकर उसीमें गायत्री मन्त्र तथा गायत्रीदेवीके तैलचित्रकी स्थापना की थी। पूज्यपादके ही तपःप्रभाव तथा सत्य संकल्पसे ऐसा अनुकूल समय आया एवं महामाया ट्रस्टके ट्रस्टियोंद्वारा ब्रह्ममयी गायत्रीदेवीके एक विशाल भव्य मन्दिरका निर्माण कराया गया और सम्वत् २०१९ में इस मन्दिरमें भगवती ब्रह्ममयी गायत्रीदेवीकी प्रतिष्ठा की गयी। मन्दिरमें प्रतिष्ठित ब्रह्ममयी विश्वेश्वरी गायत्रीदेवीकी छवि बलात् दर्शकोंका मन मोहती है। ट्रस्टके उद्देश्यानुसार गायत्रीदेवीके दाहिनीओर भगवान् लक्ष्मीनारायण एवं बायींओर भगवान् शंकरकी स्थापना भी की गयी। सम्वत् २०२१ में इसी शंकरजीके मन्दिरमें स्मारक समितिद्वारा निर्मित पूज्यपाद गुरुदेव प्रभुकी श्वेत प्रस्तरकी प्रतिमाकी स्थापना विधिपूर्वक की गयी है। अन्य देवताओंकी भाँति ही पूज्यपादकी पूजा एवं भोगका

प्रबन्ध किया गया है। प्रतिमानिर्माण एवं प्रतिष्ठाआदिका सारा व्यय उपर्युक्त स्मारक समितिद्वारा वहन किया गया। इस मन्दिरका नाम ही भगवान् महर्षि-ज्ञानानन्द स्मृतिमन्दिर रखा गया है।

स्मारक समितिका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य पूज्यपादका जीवनवृत्त प्रकाशित करना था। जीवनवृत्त लिखनेका कार्य हिन्दीके लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् लेखक सम्पादकाचार्य स्वर्गीय पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकरको सौंपा गया। क्योंकि शास्त्रीजीको पूज्यपादकी सेवामें प्रायः चालीस वर्ष रहनेका सौभाग्य प्राप्त था। वे उनके अनन्य भक्तोंमेंसे एक थे। शास्त्रीजीने बड़े परिश्रम तथा लगनसे अपने कार्यको पूरा किया; परन्तु ग्रन्थ छपकर प्रकाशित होनेके पूर्व ही शास्त्रीजीका देहावसान हो गया। हर्षका विषय है कि 'महर्षि ज्ञानानन्द जीवनवृत्त' के नामसे यह ग्रन्थ स्मारक समितिद्वारा प्रकाशित हो चुका है। पूज्यपादका जीवनवृत्त देववाणी संस्कृतमें भी प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया और इसके लिखनेका कार्य संस्कृतके प्रगाढ़ पण्डित एवं विद्वान् कविवर्य पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्रीको सौंपा गया। पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री श्रीभारतधर्म महामण्डलद्वारा स्थापित एवं सञ्चालित उपदेशक महाविद्यालयमें शिक्षा प्राप्त महोपदेशक थे। इनको भी पूज्यपाद गुरुदेवके चरणोंमें अनेक वर्षोंतक रहनेका सौभाग्य प्राप्त था। पूज्यपादको निकटसे देखने एवं पहचाननेका इनको अवसर प्राप्त था। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि, अति परिचयसे अनादर होता है; परन्तु पूज्यपाद गुरुदेवके विषयमें कुछ ऐसी विलक्षण बात थी कि, इन शास्त्रीद्वयने जितना निकटसे पूज्यपादको देखा, उतने ही ये उनके अनन्य भक्त बने। पूज्यपादकी अलौकिक प्रतिभा, असाधारण निःस्पृहता, ज्ञाननिष्ठा, अपूर्व त्याग एवं उनमें अनन्त ज्ञानकी राशि देखकर ये दोनों चमत्कृत होते थे। पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्रीकी लेखनीसे मानो संस्कृत कविताकी निर्झरिणी प्रवाहित होती थी। उन्होंने पूज्यपादको जैसा देखा था वैसा ही उन्होंने इस 'महर्षि श्रीज्ञानानन्द चरित' महाकाव्यमें चित्रित कर दिया है। इस महाकाव्यसे संस्कृत वाङ्मयकी श्रीवृद्धि हुई है, इसमें सन्देह नहीं। साथ-साथ यह महाकाव्य पाठकोंको चिरकालतक सत्पथका प्रदर्शन तथा प्रेरणा देता रहेगा। क्योंकि "महाजनो येन गतः स पन्था" महापुरुष जिस मार्गसे गये वही पन्था— गन्तव्य मार्ग है। खेद है कि, यह महाकाव्य प्रकाशित होनेके पूर्व ही कविवर्य पं० विन्ध्येवरी प्रसाद शास्त्री भी लोकान्तरित हो गये हैं, अतः इस महाकाव्यकी भूमिका भी वे नहीं लिख सके। किन्तु उनकी यह कृति उनको संस्कृत साहित्यमें अमर बनाये रहेगी।

इसप्रकार इस महाकाव्यके प्रकाशनके साथ-साथ भगवान् महर्षि ज्ञानानन्द स्मारक समितिका महान् कार्य भी समाप्त हो गया है।

जिन कार्योंसे धर्मके प्रचार, मनुष्योंके चरित्र निर्माण तथा उनके आध्यात्मिक उत्थानमें सहायता मिले, वह निश्चय ही भगवत् कार्य है; क्योंकि धर्मका ह्रास या ग्लानि जगन्नियन्ता प्रभुको सह्य नहीं है। धर्मके उत्थान तथा पुनः प्रतिष्ठाकेलिये समय-समयपर उनका अवतार इस धरातलपर हुआ करता है।

इस ग्रन्थके चरित्रनायक भगवत् पूज्यपाद योगिराट् देशिकेन्द्रशिरोमणि महर्षि अनन्त श्रीविभूषित स्वामी ज्ञानानन्द महाराजश्रीका आविर्भाव भी इसी उद्देश्यकी पूर्तिकेलिये हुआ था। उन्होंने मानव जातिके आध्यात्मिक उत्थान एवं वैदिक सनातन धर्मकी पुनः प्रतिष्ठाकेलिये जितने कार्य किये हैं, वे अनुपमेय हैं। उनके-द्वारा निर्मित अमूल्य दार्शनिक एवं धार्मिक ग्रन्थ मानव जातिको कलिके अन्ततक मार्ग प्रदर्शित करते रहेंगे। ऐसे महापुरुषके चरित्र-चिन्तन एवं उनके जीवनवृत्तके पठन-पाठनसे मनुष्यके कलुष एवं पापगण दूर होंगे, अन्तःकरण पवित्र होगा, धर्म एवं अपने कर्तव्यमें अभिरुचि होगी, कर्तव्यनिष्ठा दृढ़ होगी एवं आध्यात्मिक उन्नति होगी, इसमें सन्देह नहीं। इस ग्रन्थको संस्कृतकी शास्त्री परीक्षाके पाठ्य-क्रममें रखा जाय, तो संस्कृतके छात्रोंके चरित्र निर्माणमें बड़ी सहायता होगी एवं श्रेष्ठ साहित्यके अध्ययन-अध्यापनसे सभीका कल्याण होगा।

इस ग्रन्थका प्रकाशन भगवान् महर्षि ज्ञानानन्द स्मारक समितिद्वारा किया जाता है और इसका स्वत्त्वाधिकार श्रीभारतधर्म महामण्डल प्रधानकार्यालय, जगतगंज, वाराणसीको दिया जाता है।

उपर्युक्त स्मारक समितिने पूज्यपादके दार्शनिक ग्रन्थोंके अध्ययनके उद्देश्यसे 'भगवान् महर्षि ज्ञानानन्द दार्शनिक व्याख्यान माला' चलानेका निश्चय किया है। इस व्याख्यान मालामें दर्शनोंके ऊपर विद्वानोंके व्याख्यान होंगे एवं श्रेष्ठ विद्वानों-को प्रतिवर्ष निर्धारित पुरस्कार दिये जायँगे।

विद्यादेवी
कार्यकारिणी अध्यक्ष—
भगवान् महर्षि ज्ञानानन्द स्मारक समिति

उपोद्घातः

शक्तिदशामधिशयानस्य परमेश्वरस्य सच्चिदानन्दस्वरूपस्य परब्रह्मणः परिस्फुरणादेवास्य भवस्य समुद्भवोऽभिव्यक्तिर्वेत्यखिलविद्याविदां विदुषां सम्मतिः। निखिलान्यनन्तानि च ब्रह्माण्डानि विभ्राजोविराजःसाम्राज्यस्वरूपाणि विलसन्तितमामाध्यात्मिकाधिदैवाधिभूतनामधेयैस्त्रिभिरनुशासनविभागैर्विभक्तानि च तानीति।

तत्राध्यात्मिकाभिधेयस्य ज्ञानराज्यस्य संचालकाः ऋषिगणाः। अधिदैवाख्यस्य कर्मराज्यस्य संचालकाः देवगणाः, स्थूलराज्यस्याधिभूताभिधानस्य च पितृगणाः। सर्वहेतुभूतस्य सच्चिदानन्दमयस्य परमात्मनश्चिद्भाव एवाध्यात्मिकं राज्यम्। आनन्दभाव एवाधिदैवं राज्यम्। तस्य सद्भाव एवाधिभौतिकी भूतिरिति। तत्त्वातीते ब्रह्मणि चिद्भाव, ईश्वरयानन्दभावः, स्थूले प्रपंचमये पंचत्वभूषिते च विराजि विराजतेतमां सद्भावः। सर्वजगतां सर्वेश्वर एव ब्रह्मांडाधिपतिरधीश्वर एवावतितमामतितरां स्वशक्त्या स्वांशत एव त्रित्वेऽभिव्यक्तः सर्वाणि ब्रह्माण्डानि।

सात्त्विकीतामसीरूपासु भगवतो द्विविधासु शक्तिषु सुरासुराणामधिष्ठानम्। एतेन कर्मविपर्ययः। तस्माद्वैषम्यस्योत्पत्तिः। तत एव देवासुरसंग्रामयोः संघर्षयोस्सूत्रपातस्सम्पद्यते। द्वयोरेतयोरधिकारसाम्यत्व एव धर्मस्यास्तित्वं सुतरां समीचीनतया चारुतया वा चकासतेतमाम्।

भगवान् यद्यपि विभुः किन्तु तदापि सर्वव्यापकस्य तस्य विशिष्टशक्तिसमवायस्याभिव्यक्तिरेवावतार इति। जडचेतनात्मकशक्तिविकासपारम्पर्ये तस्याभिव्यंजनमाहात्म्यं संततं संभूत्यैवानुभवितव्यं भवति।

षोडशकलाकलितललितस्य परब्रह्मणोऽन्नमयेकोश उद्भिज्ज एकस्याः कलायास्स्वेदजे द्वयोरण्डजे तिसृणां जरायुजे पशुयोनौ च चतूर्णाङ्कलानां विकासस्समवलोक्यते। मनुतनुजनुषि च योनौ महत्तरेषु पंचभ्य आरभ्याष्टानामसामान्येष्वावतारिकेषु च बह्वीनामाषोडशकलानां विकासः

क्रमसिद्धो दरीदृश्यते। प्रथमे महात्मानो विभूतिकोटिका लौकिकाः। द्वितीयास्त्वलौकिका अवतारा अभिधीयन्त इति।

युगप्रवाहापतितानामस्वाभाविकानां रजोजुष्टानां तमःस्पृष्टानां वा विकाराणां निराकृतिर्विभूतिभिरेव विधीयते। एतेषां महानुभावानां महद्भिरध्यवसायैः दार्शनिके स्तरे वितण्डानां निरासः, सामाजिके स्तरे विग्रहग्रहिलानामगणितविगुणितग्राम्याग्रहगरलग्रस्तहृदयानामसतां विवासस्तथा च विश्वजनीनस्य विविधविद्याविधानस्य विकासो विपश्चितां प्रकाशश्च सम्पद्यते। भारतेभुवि विगतातीतशतशतशताब्देषु प्रादुर्भूतानां सर्वेषां साम्प्रदायिकाचार्याणां सिद्धार्थानां महावीरगौतमबुद्धादीनां भगवतां शङ्करवल्लभनिम्बार्कमध्वादीनां चैतन्यान्वर्थानां रामकृष्णपरमहंसविवेकादीनां वा जनिर्विभूतिकोटिमेवालङ्करोति। एते एतादृशा वा महात्मानः कलावतारा अंशावतारा एव। पूर्णावतारास्तु वामनपरशुराम रामकृष्णादयः भूरिशोऽभव्यानां भुवः भीषणभारभूतानांभुजङ्गमानां भृशं भ्रष्टभणितिभयंकराणां हिरण्यकुम्भकर्णरावणकंसशिशुपालप्रभृतीनां कदाचाराणां तत्प्रभावाणां वाऽवसानं सम्पाद्य धर्मव्यवस्थां साधु समपादयन्।

पूर्णप्रकृतिसम्पत्संवलितस्यास्यभारतवर्षस्य भुव एवैतादृक् वैशिष्ट्यं यदत्रैव भगवत अवताराः भवन्ति। स्वर्गादपि गरीयसीयं भूमिः भगवतस्सनातनदयिता। शाश्वतसुषमासंवलितेयं लीलावताराणां लीलास्थली। महापुरुषाणामियं कर्मभूमिः। एतस्यामेवोपर्युक्ता विभवो युगादारभ्याद्यावधि रामादिरूपेणावतरन्तो युगोचिताः क्रिया व्यवस्थाश्च व्यवस्थापयन्।

श्रीमद्दत्तात्रेयशुभाभिधेयानां, भगवतो विविधेष्ववतारेष्वेवैक आसीदवतारः यस्मिन् त्रिदेवानां देवर्षिपितॄणां सकलानां कलानां प्रकाश आसीत्। अवतारतत्त्वानुसारमेतद्धि ध्रुवं यदवताराणामप्यवतारो भवत्येव। कर्मज्ञानशक्तिसमवायभूतानां दिव्यतामहदाधाराणामाध्यात्मिकाधिदैवाधिभौतिकभावाभिभावकानां ब्रह्माण्डनियामकानां तत्रभवतां भगवतां श्रीमतां दत्तात्रेयाणामेवावतारा अस्माकं चरितनायकाः स्वनामधन्याः महर्षयः भगवत्पूज्यपादाः देशिकेन्द्रशिरोमणयः श्रीमन्तो गुरुवर्य्याः स्वामिनःज्ञानानन्दमहाप्रभवः इत्यस्माकं श्रद्धा।

मानव सभ्यताव्यवस्थापकाः मानवजातेः मलिनवृत्तेः परिष्कारकाः, मनसः बाह्यवृत्तितां निराकृत्यान्तर्दृष्टिसन्दापकाः, आसुरभावस्य निरासकाः, दैवभावानां प्रतिष्ठापकाः, आर्यसंस्कृतिसमुद्धारकसंस्थापकाः, धर्मोन्नायका एततकाव्यनायकाः तत्रभवतां दत्तात्रेयाणामेवावतारा इत्यत्र स्वस्यैवजीवने सम्पादिताः कार्यकलापा एव प्रमाणानि। धर्मस्य ह्रासमसहमानैर्भगवद्भिर्दत्तात्रेयैरेव गुरुवर्यज्ञानानन्दविग्रहमाश्रित्य साकारश्रियः शृङ्गारमकारीतिनिश्चप्रचम्।

तत्रभवतां गुरुवर्याणां सर्वोत्कृष्टः सिद्धान्त आसीद्धीर्यरक्षैव। कलेः कालप्रवाहस्य प्रातिकूल्यमाकलय्य तैरिदमेवावधारितं जीवनोद्देश्यम्। आलीलासंवरणमकारि तैः कृतिभिः परमः पुरुषार्थः येन सांस्कृतिकस्यबीजस्य रक्षणं स्यात्। हिन्दुजातेः विशेषेण सनातनधर्मजगतस्तु प्राणरक्षैव जाता। दुर्विचाराणामसत्विसंवादानां झंझां घटाटोपं वा सुविचारवायव्यास्त्रेण निरस्य भारतीयायाः संस्कृतेर्महदाकाशं प्रोद्भासितं कृत्वा शिवसंकल्पवादस्य पुनररुणोदयस्तैरकारि। आध्यात्मिकाधिदैवाधिभूतेषु त्रिष्वेव क्षेत्रेषु प्रकाशप्रसरणं जातम्। त्रिभावभावनेनापि वैदिक्याः संस्कृतेः पुनर्जागरणात् जनतायां जाता या धार्मिकी जागरूकता, साप्येतेषामेवानुग्रहानुविधानमासीत्।

मंत्रहठराजलययोगपारदृश्वनां, क्रियासिद्धाङ्गविज्ञवर्याणामपरोक्षानुभूतिभव्यभावानुभावानां च तेषां प्रथमाभिधेयता यज्ञेश्वर इति वर्णविन्यासमाश्रितवत्यासीत्। संम्वत् १९०२ वैक्रमाब्दस्य कृष्णजन्माष्टम्यां जातः पितुरष्टमो जातः कैशोरपौगंडवयःसन्धियौवनसम्बन्धि क्रीडाध्ययनादि विधाय विधास्यति विश्वमखिलमनवद्यरूपमिति को नाम जानातिस्म पूर्वम्? मसृणो बालारुण एव तरुणो गरुड इव तामिस्रसर्पगणं निगीर्य नवालोकेन लोकमालोकयतीति किमत्र चित्रम्? पितृचरणानां मधुसूदनमुखर्जीमहोदयानां कुलं पीयूषपावनं यशःसंकुलञ्चाकारि कयाप्यदृश्यशक्त्येति विश्वजनीनं जातमेतत्।

शमदमादिषट्सम्पत्तिसम्पन्नानां इहामुत्रफलभोगविरक्तानां नित्यानित्यवस्तुविवेकवतां भक्तानां जीवनशिक्षकास्तेषां भविष्यतः परिष्कारका एते जीवनमुक्ताः महापुरुषा आसन् येषां जीवनसम्बन्धि महाकाव्यमेतत् प्रस्तुतं सम्प्रति चकासतेतमां श्रीमत्करकमलेषु।

चारित्रोत्कर्षप्रकर्षपवित्राणां महापुरुषाणां जीवनवृत्तानुशीलनं जीवधारिणां जीवनपथप्राशस्त्याय भवतीति निष्प्रपञ्चम्। महाकाव्यमेतत् युगावताराणां चरितनायकानामाचरितं चित्रयति चारुतरं यदध्ययनेन ध्रुवमेव धर्मधौरेयतामधिगमिष्यत्येव प्रयतः पाठक इति मे मतिः।

संस्कृतसाहित्ये परम्परापालनरीत्या राज्ञां चरित्राणि चित्रितानि सन्ति महाकविभी रचितानि किन्तु तानि नालं जनताचेतःसु चैतन्यमाधातुमिति! प्रस्तुतमिदं महाकाव्यमात्मनीनं विश्वजनीनञ्चेति चिरं चित्रचेतनाचमत्कारचारुतया चिरन्तनानन्दसन्दोहनिश्च्योतचर्चितं सत् चिदाचारचूडामणीनां तथैव सामान्यानां च चेतसोविश्रान्तिकृदितिनिश्चितम्।

त्रयोविंशेषु सर्गेषूपनिबद्धमिदमच्युतचरित्रविचित्रं चिदाधारकं रम्यमोजःप्रसादमाधुर्याधायकं देववाक्यं काव्यं सहृदयहृदयसंवेद्यानुभूतिभरितं भूरिशः सद्भावभाजनं भाविनि भविष्यतीति विश्वसिमि।

अत्र भगवत्पूज्यपादानामप्रमेयाणां श्रीमद्गुरुवर्याणां मन्त्रशिष्यायाः प्रातःस्मरणीयाः समर्चनीयचरणारविन्दायाः श्रीभारतधर्ममहामंडलसंस्थापकोत्तराधिकारिण्याः श्रीमत्याः विद्यादेवीति शुभाभिधेयसमलंकृतायाः धर्ममातुः स्मरणं कृतज्ञताज्ञापकतायायनिवार्यमिति। अत्रभवती श्रीभारतधर्ममहामंडलस्य वर्त्तमाननिष्कामसंचालिका। साम्प्रतिके जगतीतले लक्ष्यमेतस्याः गुरुसेवैव केवलम्। देव्याः दृढेयं धारणा यन्महामण्डलं शरीरमेव तत्रभवतां भगवत्पूज्यपादानां गुरुवर्याणामिति। मन्ये गुरूणामृणार्णं स्वीयं जीवनं स्वीकृतमेतया ब्रह्मणः। साम्प्रतं गुरुविग्रह—वरेण्यं महामण्डलशरीरं सेवमाना भव्यस्य गायत्रीमन्दिरस्य निर्मापयित्री, वेदमातरं गृणन्ती, देवैःसहैव भगवत्पूज्यपादानां विग्रहं प्रतिष्ठापयित्री, देवी वाग्देवतामधिश्रित्य काव्यमेकंस्यादिति गुरुऋणोपमोचनार्थं रोचिष्णुवर्णालङ्करणालंकृतां गीर्वाणावाण्यामधिवर्णितामिमां महाकाव्यमयीं रचनामकारयत्। मुद्रणकर्गलमहर्घतादिविघ्नानविगणय्य देव्यैवायं ग्रन्थः प्राकाश्यंनीतः।

सखेदंसाम्प्रतं संस्मरामि तत्रभवतः कविवर्यान् श्रीमतः पण्डितवर्यविन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिमहोदयान् येषामियं कृतिः। मावलोकितस्तत्रभवद्भिः प्राकाश्यतामुपनीतोऽयंग्रन्थः। प्राकाश्यं प्रापणात् प्रागेव

येषामुपरतिःजाता। प्राक्कथनाय निवेदिते स्वीकृते च तस्मिन् हा हन्त रुग्भिर्हृतं देहरुक्म तेषां प्रागेव प्रकाशनात्। यतस्ते नालंकर्त्तुमशक्नुवन्निदं काव्यमुपोद्घातादिनेति हा। अभावे शालिचूर्णं वेतिकृत्वाऽज्ञतां व्यजिज्ञपमहंभवत्स्विति शम्।

विदुषामाश्रवः—

परमहंस मिश्रः

श्रीभारतधर्ममहामण्डलस्थः।

महर्षिज्ञानानन्दचरितस्य

महाकाव्यस्य

विषयसूचीपत्रम्

प्रथमः सर्गः

द्वितीयः सर्गः

द्वादशः सर्गः

त्रयोदशः सर्गः



महर्षि श्रीज्ञानानन्द चरितम् ।

[महाकाव्यम्]

प्रथमः सर्गः ।

श्रीज्ञानानन्दनामा प्रसृमरविभवः प्रोल्लसत्कीर्तिधामा,
योगीन्द्रो यो यतीन्द्रो निजशुचिमहसा शासिताशाक्षितीन्द्रः ।
वाराणस्यां शिवोऽन्योऽभवदिह भगवान् पूज्यपादो महर्षि-
र्वोभूयात्तच्चरित्रं भुवि पठितवतां भूयसे मङ्गलाय ॥ १ ॥

यस्य प्राच्यां वहति विपुलो ब्रह्मपुत्रो नदेशः
सिन्धुर्लोक - प्रथितमहिमा राजते यत्प्रतीच्याम् ।
प्रोत्तुङ्गोऽद्रिर्जयति सततं चोत्तरे, दक्षिणे च
क्षाराम्भोधिर्जनयति भयं प्रोल्लसद्वीचिमालः ॥ २ ॥

विस्तीर्णो भूमिभागस्त्रिभुवनमहितो गीयते भारताख्यः,
आर्याणां मातृभूमिः पितृभवनमपि प्रोच्यते सत्कवीन्द्रैः ।
देशोऽयं यज्ञियोऽस्मिन् सुविचरति मृगः कृष्णसारः स्वभावा-
दत्रत्येभ्यो गुरुभ्यो मनुतनुजनुषो धर्मशिक्षां लभन्ते ॥ ३ ॥

खण्डं त्रिलोकतिलकं किल भारताख्यं
जेगीयतेऽखिलसुरैरपि कर्मभूमिः ।
अत्रैव लब्धजनयो मुनयो महान्तो
निष्कामकर्मनिरताश्च भजन्ति मोक्षम् ॥ ४ ॥

तद्भिन्नतामुपगता निखिलाः प्रदेशा
ब्रह्माण्डमध्यलसिता विविधा विशालाः ।
सत्य - प्रदर्शिभिरसंख्य - महर्षिवर्यै-
स्ते केवलं बहुलभोगभुवः प्रगीताः ॥ ५ ॥

यथा त्रिदेवेषु महेश्वरो वरो
यथा ह्रदानां महितः पयोनिधिः ।
क्षोणीधराणां प्रवरो हिमालयो
राज्ञां वरेण्यश्च यथा शचीपतिः ॥ ६ ॥

अश्वत्थ इभ्योऽङ्घ्रिपवर्गमध्यगो
दुर्गा च देवीषु समस्तसिद्धिदा ।
वर्णेषु विप्रो गुणवान् यथा वर-
स्तथा वरं भारतमण्डलं भुवाम् ॥ ७ ॥

व्यासो वशिष्ठः कपिलश्च गौतमः
शातातपः सिद्धमरीचिरङ्गिराः ।
श्रीयाज्ञवल्क्यश्च पतञ्जलिः क्रतुः
शुकः पुलस्त्यः पुलहश्च शौनकः ॥ ८ ॥

कण्वश्च शङ्खो लिखितश्च कौशिकः
कणाद - शाण्डिल्य - पराशरास्तथा ।
भृगु-र्भरद्वाजमुनिश्च जैमिनिः,
अतीतसंख्या मुनयो महर्षयः ॥ ९ ॥

देवर्षयो विश्रुतनारदादयो
राजर्षयः श्रीजनकादयस्तथा ।
सत्कर्मगर्गप्रमुखाः पुरोधसः
उत्पेदिरेऽत्रैव पवित्रभूतले ॥ १० ॥

षड्भिः सदर्तुभिरुपेत्य समुल्लसन्ती
पीयूषसुन्दरफलानि विकासयन्ती ।
यं सेवते भगवती प्रकृतिः प्रकामं
देशः स एव सुरवन्दितभारताख्यः ॥ ११ ॥

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥ १२ ॥

मन्ये विधात्रा जगदेककाननं
विनिर्मितं वर्षमिदं सुशोभनम् ।
धर्माख्यपुष्पाणि कियन्ति यत्र वै
कैवल्यरूपं च फलं प्रचीयते ॥ १३ ॥

इत्यादिकं भरतभूसुमहत्त्वमुच्चै-
रुद्घोषितं लसति शास्त्रकदम्बकेषु ।
पाश्चात्त्यसत्यधिषणैरपि वित्प्रकाण्डैः,
सर्वत्र भारतयशो बहुशोऽस्ति गीतम् ॥ १४ ॥

अत्रैव निर्जरसरित्परितो वहन्ती
दुःखानि सर्वजगतां च सदा हरन्ती ।
श्रीशङ्करस्य च जटासु सदा वसन्ती
देवर्षि - पितृभिरनारतमस्त्युपास्या ॥ १५ ॥

सन्दर्शनं हरति या निजदर्शनेन
पङ्कं व्यपोहति च पङ्कविलेपनेन ।
मातुः पयश्च विनिहन्ति पयःप्रपानाद्
यस्यामधोगतिरधोगतिनाशकर्त्री ॥ १६ ॥

हन्त्री सदैव जनमानसपातकानां
दात्री च सौख्यनिवहस्य सुनिर्वृतेश्च ।
ब्रह्माण्डरत्नपदवीं वितरीतुकामा
देवापगा किमुत भारतमाजगाम ॥ १७ ॥

विज्ञानविश्रुतचरैर्हि मनीषिवर्यैः
पाश्चात्त्यदेशविबुधेषु लसत्प्रभावैः ।
कीटाणुनाशनपरं निरवद्यरूपं
गङ्गाजलं बहु परीक्ष्य सुशंसितं च ॥ १८ ॥

अत्रैव रत्ननिलयोऽखिलयोगिसेव्यो
हैमो गिरिर्लसति सर्वत एव तुङ्गः ।
यो भारतस्य च भुवो मुकुटायमानो
मूर्धन्यतामुपगतो भुवने नगानाम् ॥ १९ ॥

अत्रैव नीरनिधिरस्त्यधिको गभीरो
योऽन्तस्तलं स्पृशति हन्त रसातलस्य ।
यत्रातिभीषणतिमिङ्गिलमत्स्यकाद्याः
सर्पाश्च योजनधृताकृतयो वसन्ति ॥ २० ॥

अत्रैव पीतसितरक्तसितातिरिक्ता
अश्वन्ति दर्शनपथं हि मृदश्चतस्रः ।
चत्वार आप्तपुरुषा विलसन्ति वर्णाः
स्वे स्वे च कर्मणि रता विरता ह्यधर्मात् ॥ २१ ॥

अत्रैव केशव - शिवादि - समस्तदेवा
लोकोपकारनिरताश्च महर्षयश्च ।
सन्तः परार्थघटकाः सुधियः कवीन्द्राः
पूर्णांशतो हि बहुशः समवातरन्ति ॥ २२ ॥

अत्रैव भूमिवलयस्य समस्तभागा-
दानीतजीवनिवहाः समुदो वसन्ति ।
स्वादैश्चमत्कृतविदेशजना रसालाः
पीयूषतुल्यरससारभृतो लसन्ति ॥ २३ ॥

स्तुतास्तुलाधारसमाधिनामका
भामादयो वैश्यसमाजपुङ्गवाः ।
सूतादि - रैदाससमानशूद्रका
अत्रैव जाताः स्वकुलप्रदीपकाः ॥ २४ ॥

स्थापत्य - गान्धर्व - धनुस्सदायु-
र्वेदादिकास्ता उपवेदविद्याः ।
वैज्ञानिकं दार्शनिकं कलाख्यं
तज्ज्यौतिषं शास्त्रमिहैव जातम् ॥ २५ ॥

आख्यायिका - नाटक - नृत्य - काव्य-
सङ्गीतशास्त्रेषु परं प्रवीणाः ।
वीणा - मृदङ्गादिक - वादकाश्च
कलाकरास्ते सकला बभूवुः ॥ २६ ॥

वेदाः पुराणानि च धर्मशास्त्र-
कदम्बकं व्याकरणानि योगाः ।
ऐतिह्यमाप्तं विविधाश्च बोधा
इहैव पूर्वं समुदेयिवांसः ॥ २७ ॥

प्रह्लादभीष्मादिकभक्तिमन्तो
भीमार्जुनाद्याश्च सुधीरवीराः ।
मयूरकेतुश्च शिविर्दधीचि
र्बभूवुरत्रैव तपस्विवर्याः ॥ २८ ॥

तत्संस्तुतं जगति भारतभूमहत्त्वं
शेषोऽप्यशेषमुखतो नहि वक्तुमीशः ।
अज्ञानबुद्धिविकलः किल मानवो यः
स स्यात् कथं नु परिवर्णयितुं समर्थः ? ॥ २९ ॥

आर्यावर्तं जनपदमिमं भारतान्नातिरिक्तं
ब्रह्मावर्तं तदतिमहितं मेनिरे बोधमुख्याः ।
ब्रह्मर्षीणां स्थलमिदमहो गीयते सन्मुनीन्द्रै-
र्जीवन्मुक्ता निजजनुरपि प्रायशो लेभिरेऽत्र ॥ ३० ॥

देहस्याङ्गेष्वपि सुमहितं प्राणिनां मस्तकं य-
त्तस्मिंस्तद्वद् भरतभुवने पावनोऽयं प्रदेशः ।
ब्रह्मावर्तो जनपदवरो ह्युत्तमः सर्वतोऽपि
यस्यां भूमौ वहति यमुना जाह्नवी सर्वदैव ॥ ३१ ॥

ब्रह्मावर्ते प्रसिद्धे तिलकमिव परं पत्तनं कान्यकुब्जं
तस्मात् पञ्च प्रयाता यमनियमरताश्छान्दसो वेदगर्भः ।
दक्षः श्रीहर्षवर्यो ह्यवनिसुरवरो भट्टनारायणश्च
वङ्गप्रान्ते समेताः सुकृतकृतधियः सत्कृता वङ्गभूपैः ॥ ३२ ॥

एषां भरद्वाजकुले प्रसूत
स्त्रिकालवित् स्वीयतपोभिरुग्रः ।
वेदार्थवेत्ता कविहर्षवर्षः
श्रीहर्षनामाऽजनि सत्कवीन्द्रः ॥ ३३ ॥

महाकवेस्तस्य कुलेऽत्र 'गङ्गा-
धरो'ऽभवद् विप्रशिखामणिर्यः ।
योगाङ्गनिष्णाततया द्विजोऽसौ
योगीश्वराख्यां समलञ्चकार ॥ ३४ ॥

तद्वंशजा विमलबोधविशालचित्ता
विज्ञात्ते॑ऽपि महिताः स्वमहामहिम्ना ।
वङ्गीय भूमिवलयप्रथितस्थलेषु
ते सर्वतः सप्तपुरात्मगुणप्रदीप्ताः ॥ ३५ ॥

ऋद्धे च तत्र हुगलीति सुनामधेये
सन्मण्डले प्रकृतितो रमणीयरूपे ।
धर्मात्मयुक् प्रथित-'तेलिन'-पूर्व-'पाडा'-
नाम्ना सुविश्रुतचरोऽभिजनश्चकास्ति ॥ ३६ ॥

तस्मिन्ननन्तसुगुणार्चितशेमुषीका
वेदादिशास्त्रपरिशीलनसत्प्रभावाः ।
सद्दर्शनादि - सुनिदर्शन - सार्वभौमा
विप्राः स्वधर्मनिरताः प्रबभूवुराप्ताः ॥ ३७ ॥

अन्ते वसद्व्रज - निरन्तरपाठनेन
वासोऽन्नपुस्तक - प्रदान - पुरस्सरेण ।
सत्कीर्ति-कीर्तितसुधीतिलकाम् 'उपाध्या-
या' ख्यां दधुर्निजविधेयविधानदक्षाः ॥ ३८ ॥

शास्त्रानवद्य - परिपाठन - पाटवेन
वैदुष्यमापुरखिला हि शुकाः पिकाश्च ।
यत्पार्श्वतः परिवसन्ति लसन्ति तिर्य-
गश्चन्ति तेऽपि पटवः किमु ये मनुष्या ॥ ३९ ॥

अत्यन्तदुर्लभतरेण जगत्यनेन
लोकोत्तरेण जनशिक्षणपाटवेन ।
संशिक्षयितृनिवहेषु च सत्सु 'मुख्यो-
पाध्याय' तामुपगतः किल वंश एषः ॥ ४० ॥

वीराग्रणी मुकुट - विक्रमवत्सरस्य
चैकोनविंशशतकस्य तु मध्यभागे ।
तद्वंश-भूसुरकुलेष्ववतंस - 'गङ्गा-
नारायणः' समभवद् रविदीप्तिरास्ः ॥ ४१ ॥

तस्यैव विप्रस्य गुणैर्वरीयान्
ज्यायांस्तनूजो गृहमेधदक्षः ।
दानी यशस्वी स्वकुलप्रदीपो
योगी महात्मा 'मधुसूदनोऽ'भूत् ॥ ४२ ॥

सत्पञ्चयज्ञ - परिपालन - पूतकर्मा
संत्रात - वैदिकसनातन - शुद्धधर्मा ।
तन्त्रश्रुतिस्मृतिपुराणनिरुक्तकल्प-
सद्दर्शनादि-परिशीलयिता च सोऽभूत् ॥ ४३ ॥

यज्ञप्रसाधनपरो वरदो वदान्यो
विश्राणितार्थि-सुसमीहितधान्यधन्यः ।
केनापि कारणवशेन कलत्रयुक्तो
मुक्तो गृहात् सपदि 'मेरठ' माजगाम ॥ ४४ ॥

आसीत् पत्नी भूमिदेवस्य तस्य
श्रीला 'वामा सुन्दरी' नाम धेया ।
तस्या देव्याः पाणिपीडाप्रभावात्
विप्रः सोऽभूत् कोट्यधीशः क्षणेन ॥ ४५ ॥

सैषा बभूव मनसा वचसाऽपि साध्वी
शश्वत्पतिव्रतपरायण - सत्स्वभावा ।
विख्यातिमाप सहसैव पतिव्रतानां
धौरेयतामुपगता जगतीतलेऽस्मिन् ॥ ४६ ॥

पृथ्वीस्थितानि सकलानि समस्तधर्मे-
ष्वङ्गीकृतानि हृदघौघहराणि यानि ।
तीर्थानि तानि निवसन्ति सदा सतीनां
सद्वन्दनीय - परिपूत - पदाम्बुजेषु ॥ ४७ ॥

तत्पादपद्मरजसा पतितेन सद्यः
संपावनत्वमधिगच्छति भूमिरेषा ।
तासां पदेषु सुकृतैः सुकृतप्रणामो
लोकः समस्तदुरितानि जहात्यशोकः ॥ ४८ ॥

देवर्षयश्च पितरश्च महर्षयो ये
ब्रह्मर्षयश्च निवसन्ति जगत्सु, तेषाम् ।
धामानि कल्मषहराणि निरन्तरेण
पूतं सतीचरणधाम समाश्रयन्ति ॥ ४९ ॥

दृष्ट्वा पतिव्रतपरायणशीलभाजा-
मार्यस्त्रियां स्वगृहकर्मसु संरतानाम् ।
तेजांसि सर्वभुवनग्रसने पराणि
स्तब्धीभवत्यखिलधामधरोऽपि देवः ॥ ५० ॥

सर्ग - प्रसारणपटुश्चतुराननोऽसौ
रक्षाविधान - निपुणो मधुसूदनश्च ।
संहारकृत् त्रिनयनोऽपि सतीप्रभावं
श्रुत्वैव बिभ्यति हतप्रभतां भजन्ते ॥ ५१ ॥

शुद्धस्वरूपमिह कोसलकन्यका सा
प्रासोष्ट तं दशरथेन तु रामचन्द्रम् ।
श्रीदेवकी च वसुदेवपतिं भजन्ती
पूर्णावतारमपि कृष्णमजीजनच्च ॥ ५२ ॥

शश्वद् - व्रताचरणशोधित - चित्तदेहा
विश्वेश्वरार्चनपरा परमा सती सा।
सम्मानदाऽतिथिजनस्य सदैव वामा-
श्रीसुन्दरी भगवती भगवत्प्रपन्ना ।। ५३ ।।

भाद्रे द्विशून्यनवभूयुतवैक्रमाब्दे
पक्षेऽसिते वसुतिथौ शुभदेऽर्धरात्रे ।
यज्ञप्रसाद - जनिताऽष्टम - पुत्रमेनं
'यज्ञेश्वरं' ह्यजनयन्मधुसूदनेन ।। ५४ ।।

श्रियः समेतं गगनं सुनिर्मलं
मही महामङ्गलसूचिकाऽभवत् ।
ह्रदाश्च नद्यश्च पयोऽभिरामतां
प्रपद्यमाना जलजाश्रितश्रियः ।। ५५ ।।

बभूवुरानन्दन - दुन्दुभिस्वना
मनांसि हृष्टानि सतां तदाऽभवन् ।
विचित्रकर्णामृतसामगीतिभिः
प्रतुष्टुवुः किन्नरसिद्धचारणाः ।। ५६ ।।

द्विजालिसङ्गीतलसच्छ्रियं पुरं
वनानि संफुल्ल - सुमानि सर्वतः ।
ववौ सुखस्पर्शसुगन्ध - मेदुरः
पयोदवर्षी पवनश्च पावनः ।। ५७ ।।

प्रसन्नविद्याधरयोषितो मुदा
सहाप्सरोभिर्ननृतुर्जगुस्तथा ।
मुदान्वितास्ते मुनयो महर्षयः
सुमान्यमुञ्चंस्त्रिदशैः समन्विताः ।। ५८ ।।

दिशः प्रसेदुर्ग्रहमण्डलं शुभं
प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे ।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं
भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥ ५९ ॥

एतादृशी ह्यमृतवर्षणशालिनीयं
वाणी मम स्मृतिपथं सहसाऽभ्युपैति ।
तद्दर्शनीयमनघं शिशुरूपमेतद्
आलोक्य विस्मयवती जननी बभूव ॥ ६० ॥

अतिशयरमणीयं तेजसां पुञ्जमेनं
निज जनिगृहमन्तः सर्वतो दीपयन्तम् ।
प्रसवजनित दुःखं सर्वथा विस्मरन्ती
मनसि मुदमवाप्ता मातृदेवी विलोक्य ॥ ६१ ॥

इति श्रीकविवर्य विन्ध्येश्वरीप्रसाद शास्त्रि-विरचिते
महर्षि ज्ञानानन्द चरिते महाकाव्ये
प्रथमः सर्गः ॥

।। अथ द्वितीयः सर्गः ।।

अफुल्लपद्मायतलोचनः शिशुः
प्रकाशयन् सूतिगृहं स्वरोचिषा ।
स्मितेन मन्देन सुधातिशायिना
निनिन्द सम्पूर्णविभावरीश्वरम् ।। १ ।।

मुखश्रिया ह्रेपितपूर्णचन्द्रमाः
जहौ न चाद्यापि निजां क्षयिष्णुताम् ।
निजाधरेणाधरयन् नवोद्गतान्
प्रवालरक्तान् सहकारपल्लवान् ।। २ ।।

समस्तवृक्षोद्भवकोमलामला-
श्छदा नवा वायुविकम्पनच्छलात् ।
लसत्तदोष्ठानुकृतौ पराङ्मुखा
प्रकाशयन्तीव निजामशक्तताम् ।। ३ ।।

स्मितेन किं विग्रहवान् हुताशनो
नराकृतिर्बालपतङ्ग एव वा ।
किमादिदेवोऽवततार मद्गृहे
निरीक्ष्य तं तज्जननी ह्यमन्यत ।। ४ ।।

अबालतेजा अपि बालरूपधृक्
मुखारविन्दच्छविमद्भुतांदधत् ।
इतस्ततो दिक्षु विनिक्षिपन् दृशौ
चकार नैजां जननीं सुविस्मिताम् ।। ५ ।।

अथाविरासी दिह सूतिका गृहे
जगद्वरेण्यात्रि - मुनेस्तनू - जनुः ।
महर्षिवर्यः स हि दत्तनामको
जगाद चेत्थं वचनं मनोहरम् ॥ ६ ॥

त्वया विधेयो नहि कोऽपि विस्मयो
जनन्यदो वीक्ष्य नु मामकं जनु ।
पितुर्वरेण्यस्य च ते तपस्यया
ह्यहं त्वदीयोदरमध्यमागतः ॥ ७ ॥

पुरा समाचार्यनसूयया त्वया
तपश्च तातेन महोग्रमत्रिणा ।
मनुष्यदेहं युवयोर्मनोरथं
प्रपूरणार्थं धृतवानहं चिरात् ॥ ८ ॥

दुरत्ययो भोगिभिरादृतो महान्
करालकालः कलिरागतोऽधुना ।
सदाऽसदाचारविधौ परायणः
क्रमात् परां भीषणतां गमिष्यति ॥ ६ ॥

न वेदमार्गे रुचिरस्ति कस्य चित्
जनस्य वर्णाश्रमधर्मकर्मसु ।
स एव विज्ञः श्रुतिनिन्दकोऽस्ति यः
स एव पूज्यः परवञ्चने रतः ॥ १० ॥

मृतस्त्रियः स्त्रीयविभूतिभञ्जका
निराकृता ये परिवारवर्गतः ।
जटा विशालाः परिधाय सर्वतः
सुमुण्डिता वा विचरन्ति भूतले ॥ ११ ॥

धनैर्विहीना गृहिणः सुदुर्बलाः
सुभोजनाभाव - विषण्णमूर्तयः ।
परन्तु सुस्निग्धपदार्थसेवनात्
पिचण्डिलाः साधव इभ्यतां गताः ॥ १२ ॥

महात्मसंज्ञां भुवनेषु धारयन्
स्वदेशवन्द्यश्च तपस्विनांवरः ।
अवैदिकं किन्तु मनः समाद्रितं
तमेव धर्मं प्रतिपादयिष्यति ॥ १३ ॥

विगीय वर्णाश्रमधर्मशृङ्खला-
मसत्स्वभावैः स्वसुवेशसाधुभिः ।
महात्मना तेन कृता परम्परा
प्रसह्य सर्वत्र विसारयिष्यते ॥ १४ ॥

न वर्णभेदो न च जातिभिन्नता
न धर्मभेदो न च रक्तभेदता ।
विहाय सर्वामपि भेदभावनां
चरन्तु लोका इति राजसम्मतिः ॥ १५ ॥

स्वधर्मसेवा परमेशपूजनं
सवर्णपाणिग्रहणं पतिव्रतम् ।
कथाप्रसङ्गेऽपि पुराणसेवनं
न राजधर्माधिकृतं भविष्यति ॥ १६ ॥

स्वराज्यमासाद्य च हन्त भारते
प्रवृत्तिरेषा भविता ह्यधार्मिकी ।
भवामि चैतादृशयत्नवानहं
यतो विनश्येन्नहि साऽऽर्यसंस्कृतिः ॥ १७ ॥

त्रिभाषया संवलितं त्रिभाववत्
पुराणशास्त्रं सुधियां मनोरमम् ।
तदर्थबोधे नितरां भ्रमान्विता
विपश्चितां ये प्रथमे निरूपिताः ॥ १८ ॥

परस्परं विप्रतिपन्नमूर्तयो
लसन्त्यनेकाः किल धर्मरीतयः ।
समन्वयाभावत एव युद्ध्यते
सुशिक्षितै र्मानव - पुङ्गवैरपि ॥ १९ ॥

निदर्शनं दर्शनशास्त्रमप्यहो
परस्परं भिन्नमिव प्रतीयते ।
ऋषिप्रणीतेष्वपि तेषु वाग्मिनां
कथं नु जागर्ति विरुद्धभावना ॥ २० ॥

श्रुतिस्मृतीनां वचने सदादृते
विरुद्धता किं परिलक्ष्यते जनैः ।
न लक्ष्यते तत्परिहारपूर्वकं
समन्वयः कोऽपि विपश्चिदादृतः ॥ २१ ॥

स्वसम्प्रदायाननुसृत्य निर्मिता
व्यासेन गीता भुवि सप्तसंख्यका ।
प्रकाशमाना अपि हन्त साम्प्रतं
न चैव तासां परिलक्ष्यतेऽस्तिता ॥ २२ ॥

स मन्त्रयोगः स हठाख्ययोगो
लयाख्ययोगोऽपि च राजयोगः ।
एषां चतुर्णामपि सत्यमार्ग-
निदर्शिका पद्धतिरेव नास्ति ॥ २३ ॥

महर्षिधौरेय - पतञ्जलिर्मुनि-
ररीरचद् यत् भुवि योगदर्शनम् ।
न तस्य भाष्यं सरलं सुखावहं
समस्तसन्देहहरं निभाल्यते ॥ २४ ॥

अनाविलं कापिलसांख्यदर्शनं
निरीश्वरत्वेन जगत्सु विश्रुतम् ।
तदीयसूत्राध्ययनाद् विवेकतः
स ईश्वरः सिद्ध्यति कोऽत्र बुद्ध्यते ॥ २५ ॥

अपारविज्ञानजुषा महर्षिणा
प्रणीतशास्त्रे मुनिभिः समादृते ।
निरीशवादः परिलक्ष्यते कथं
विचारदृष्ट्या न कदापि चिन्तितम् ॥ २६ ॥

विज्ञान,भिक्षुरिह बौद्धमतावलम्बी
यो हीश्वरीयविभुतां नहि मन्यते स्म ।
तेनैव हन्त रचितं खलु सांख्यभाष्यं
भ्रान्तिं गता वरधियः सुधियो विलोक्य ॥ २७ ॥

वेदान्तदर्शनमिदं भगवत्प्रपन्नै-
राकृष्यमाणमभितो निजसत्स्वरूपम् ।
नैव प्रदर्शयति येन सुमेधसोऽपि
भ्रान्तिं भजन्ति सततं परिमुग्धचित्ताः ॥ २८ ॥

अत्रापि संस्तुतसमन्वयभाष्यमेकं
प्रज्ञावबोधजनकं विरचय्य नूनम् ।
सञ्चारणीयमखिलेषु जगत्सु येन
दूरीभविष्यति विदां हृदयान्धकारः ॥ २९ ॥

महर्षिणा जैमिनिना भुवस्तले
प्रचारितं विश्रुतकर्मदर्शनम् ।
विहाय यज्ञान् नहि तत्र कर्मणां
गतिः समस्ता सुविवेचिता क्वचित् ॥ ३० ॥

अनन्त - कर्मान्वगति - प्रबोधकं
क्वास्ते भरद्वाजकृतं च दर्शनम् ।
प्रकाशनीयं तदपि प्रयत्नतो
यतः प्रसीदेद् भुवि विज्ञमण्डली ॥ ३१ ॥

पदार्थवादात्मक - गौतमीय-
कणादशास्त्रे किल योगसाङ्ख्यौ ।
सत्कर्मकाण्डीयमुपासनाख्यं
तद्दर्शनं ब्रह्मविचारदक्षम् ॥ ३२ ॥

एकैकसोपानमतिक्रमन् क्रमाद्
यथा नरः सौधतलं प्रपद्यते ।
तथैव चैतत्सकलं हि दर्शनं
क्रमादधीत्यैव विमुक्तिभाग् भवेत् ॥ ३३ ॥

अन्योन्यभेद - प्रतिपादकानां
सद्दर्शनानां भुवि विश्रुतानाम् ।
सन्देहमुत्पादयतां च तेषां
सुसङ्गतिर्वास्तविकी न चास्ति ॥ ३४ ॥

उपासनाकाण्ड - महत्त्वसूचकं
विलुप्तमास्ते भुवि भक्तिदर्शनम् ।
वेदान्तसूत्राण्यवलम्ब्य धीधनै-
रनेकधा भक्तिमतं प्रचारितम् ॥ ३५ ॥

सुधीभिरेभिर्निजबोधवैभवात्
प्रसह्य सर्वं विपथायितं जगत् ।
अतो मया लुप्तमिदं हि दर्शनं
प्रकाशमानेयमुपासनात्मकम् ॥ ३६ ॥

कुटीचरैश्चापि बहूदकैश्च
हंसैस्तथा तैः परमैश्च हंसैः ।
संन्यासिभिः सद्भिरनेकरूपै-
र्जगत्समस्तं परिपूर्णमास्ते ॥ ३७ ॥

परन्तु तेषां किल शास्त्रसम्मता
न लभ्यते पद्धतिरत्र काचन ।
मया प्रयत्नेन जगद्धितैषिणा
प्रकाशनीया विबुधैः समादृता ॥ ३८ ॥

ऐतिह्यवादनिरतैर्विबुधप्रकाण्डैः
पाश्चात्त्यदेशजननैरपि भारतीयैः ।
निर्धारितोऽत्र बहुभिः समयः श्रुतीना-
मार्यागमश्च कथितो बत भारतेऽत्र ॥ ३९ ॥

आर्योदितांश्च निखिलानितिवृत्तवादान्
रामायणे निगदितानथ भारतेऽपि ।
अज्ञानमन्दमतयो जगतीतलेऽस्मिन्
प्रख्यापयन्ति परिनिन्द्य बतान्यथैव ॥ ४० ॥

एतादृशीं भ्रान्तिमपास्य यत्ना-
दाविष्कृतैस्तैर्बहुभिः प्रबन्धैः ।
विद्वद्भिराप्तैश्च समादृतैः सो-
ऽपास्यो मया तद्धृदयान्धकारः ॥ ४१ ॥

महामण्डलं धार्मिकं भारतीयं
सुसंस्थानकं स्थापनीयं वरेण्यम् ।
यतः सर्वधर्मालयानां व्यवस्था
सुभूयात् तदन्योन्यसंग्रन्थनं च ॥ ४२ ॥

वैधव्यदुःखदहनैः परिदग्धचित्त-
देहा विरक्तपुरुषा इव पूजनीयाः ।
हा हन्त किन्तु मनुजा न समाद्रियन्ते
सर्वत्र ता भुवि विलोक्य निराद्रियन्ते ॥ ४३ ॥

तद्रक्षणाय शतशो विधवाश्रमाणां
संस्थापनं च मम जीवलक्ष्यभूतम् ।
तत्सिद्धिमार्यमहिलापरिषत्प्रकुर्या-
न्मत्स्थापिता प्रतिनिधिर्महिलाजनानाम् ॥४४॥

प्राकट्य-'मार्यमहिला' भिध-पत्रिकायाः
सम्पाद्य धर्मनिरतासु सनातनीषु ।
दाम्पत्यभाव - परिपोषणयुक् - सतीत्व-
धर्मान् प्रचारयितुकाम इहागतोऽस्मि ॥ ४५ ॥

वर्णाश्रमीय - जनसेवकसङ्घमेकं
सद्राजनीतिपरिसारणलब्धकीर्तिम् ।
संस्थाप्य, धर्मरहितां किल राजनीतिं
व्याहन्तुमार्यजगतीतलमाविरस्मि ॥ ४६ ॥

सौपर्वणीमथ च वङ्गजनाद्रितां च
हिन्दीं तथाऽङ्गलयुतां विविधां च भाषाम् ।
साप्ताहिकान्यथ च पाक्षिकमासिकानि
पत्राण्यनन्तविभवानि मया प्रकाश्य ॥ ४७ ॥

वर्णाश्रमीयजनता - परिसेवकानां
संस्थानसङ्घपरिषद्विविधाभिधानाम् ।
धर्मात्ममानवसुसङ्घटने रतानां
द्वारा हितानि जगतः सुचिरं विधास्ये ॥ ४८ ॥

विद्यालयोऽपि सुमहानुपदेशकानां
संस्थापनीय इह यत्र विदां वरेण्याः ।
धर्मप्रचारणपरायण - तर्कयुक्ति-
प्रामाण्यदीप्तमतयः सततं पठेयुः ॥ ४९ ॥

घूका यथाऽर्कमहसा परितप्यमानाः
स्थानान्तरं हि तमसावृतमाश्रयन्ति ।
तद्वद् यदीयवचसा तरसाऽतिभीता
मूका भवेयुरखिला अपि वादिधुर्य्याः ॥ ५० ॥

सत्कर्मकाण्डसुविचक्षणवैदिकानां
संस्कारराशिरिह नश्यति पर्यभावात् ।
तेषां समुन्नतिकृतेऽपि च सर्ववेद-
विद्यालया हि महनीयतमा विधेयाः ॥ ५१ ॥

कालेजनामसु सुधीवरमण्डितेषु
विद्यालयेषु सततं परिपाठनाय ।
तर्काचिता बहुविधाश्च सयुक्तिकाश्च
सद्ग्रन्थरत्ननिवहाः शतशः प्रणेयाः ॥ ५२ ॥

आरोधमाप कृषिसेचनकर्महेतोः
स्रोतस्विनतुल्यपरिखातनदीप्रवाहैः ।
धारा सुपर्वसरितोऽपि च यत्र तत्र
येनैकबिन्दुरपि तत्पयसां न लभ्यः ॥ ५३ ॥

हा हन्त देवतटिनीपयसामभावाद्
देवर्षि - पितृपरितोषककर्मवर्गः ।
सम्यङ् न सिद्ध्यति ततो विविधैः प्रयासै-
र्धारा निरन्तरगतिश्च मया विधेया ॥ ५४ ॥

श्रीमद्विभूतिमदनेकगुणान्वितानां
संपूजनं भगवतो हि समर्चनं तत् ।
एतत्प्रसाधनपटुः सुविभाग एकः
सम्मानदाननिरतः सुविधेय आप्तः ॥ ५५ ॥

वैधव्यदुःखपरितप्तपतिव्रतानां
विद्यार्थिनां च वसुहीनतयाऽर्थिनां च ।
क्लेशान् निरासयितुमत्र मया हि दान-
भण्डारनामकनिधिः परिकल्पनीयः ॥ ५६ ॥

प्रायः समस्तमपि पुण्यपवित्रतीर्थ-
स्थानं ह्युपद्रुतमहो परधर्मपापैः ।
कृत्वा तदुद्धृतिविधानमनेकरूपं
संरक्षणीयमपि तद् विविधैरुपायैः ॥ ५७ ॥

आचार्यशङ्करयतीश्वरसुप्रतिष्ठ-
पीठानि संविलुलितानि विश्रृङ्खलानि ।
आम्नाय-धर्ममनुसृत्य विधाय रक्षां
धर्मः सनातनतनुः परिरक्षणीयः ॥ ५८ ॥

श्रीसंस्कृतप्रसरणात्मकमेकविद्या-
पीठं वरं सुविरचय्य सुधी - समाजे ।
सद्धर्मरक्षणपरीक्षणपद्धतीना-
मुज्जीवनाय भुवनेऽत्र समागतोऽहम् ॥ ५९ ॥

यागाः श्रुतिस्मृतिपुराणसमस्ततन्त्र-
प्रोक्ता अनन्तवपुषो रमणीयरूपाः ।
श्रीशक्तिसूर्यशिवविष्णुगणाधिपादीन्
देवान् सुतोषयितुमेव भुवि प्रवृत्ताः ॥ ६० ॥

तेषां स्वरूपमपि सम्प्रति विप्रणष्टं
जानन्ति केऽपि विधिना नहि तान् प्रयोक्तुम् ।
तत्तद्विभिन्नशुभशाश्वतिकप्रयोग-
स्याविष्कृतौ प्रयतनीयमहो मयैव ॥ ६१ ॥

स्वीयावतारवपुषा परिपालनीयं
सत् कर्म नैजमखिलं प्रणिगद्य भूयः ।
ज्ञान्यग्रगण्यमहनीयमहर्षिदत्ता-
त्रेयस्तदैव शिशुमेनमथाविवेश ॥ ६२ ॥

वरेण्यनिजरूपतः पुलकितां च तां विस्मितां
विधाय शिशुरेषकः स्वजननीं सुमन्दस्मिताम् ।
अजागरयदन्यतः सुखसुषुप्तिमाप्ताञ्जनान्
स्वरैः सुमधुरैर्निजैरपहरंश्च नैशं तमः ॥ ६३ ॥

इति श्रीकविवर्य-विन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रि-विरचिते
महर्षिज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये
द्वितीयः सर्गः ।

—:❀:—

॥ अथ तृतीयः सर्गः ॥

समाकर्ण्य बालस्य तद् रोदनं ताः
समागत्य दास्यो लसच्छ्रोणिभाराः ।
प्रसूतिं समाश्वास्य जग्मुः प्रसन्नाः
पितुः पार्श्वमानन्दकन्दं प्रपन्नाः ॥ १ ॥

सदा पितृ - देवर्षि - पूजापरेण
प्रशान्ते निशीथे मघाः सूदनेन ।
विनिद्रेण नेत्रा सतामानन्दे
विदित्वा शिशोर्जन्म दासीमुखेन ॥ २ ॥

यथा वर्णिनां ब्रह्मचर्यं सुखाय
यथा वा वनस्थाश्रमे शास्त्रचिन्ता ।
यथा न्यासिनां ब्रह्मनिष्ठा वरेण्या
तथाऽऽस्ते गृहस्थाश्रमें पुत्रजन्म ॥ ३ ॥

निशम्यामृतं श्रोत्रपेयं वचस्तत्
प्रसन्नाननो माननीयो द्विजानाम् ।
नताभ्यश्च ताभ्यो ददौ स्वर्णमुद्रा
अमूल्यानि वासांसि चाभूषणानि ॥ ४ ॥

सुहर्षप्रकर्षस्य वर्षी प्रकृष्ट-
स्तदा विश्रुतः सान्द्र आनन्दघोषः ।
तमाकर्ण्य संख्यातिगा भूसुरेन्द्राः
समाजग्मुरन्येऽपि ये दानयोग्याः ॥ ५ ॥

सुशीलं सुसौजन्यमौदार्यमादि
स्वकीयं परित्यज्य धर्मप्रियत्वम् ।
सपत्नीकविप्रो ह्यदात् सप्रमोदं
स्वसर्वस्वमेवागतेभ्यो नरेभ्यः ॥ ६ ॥

कुलाचारहीनां सदाचारपीनां
कुलाचाररीतिं समाश्रित्य शुद्धाम् ।
प्रसिद्धाननेकान् गणेशादिदेवान्
प्रपूज्याकरोत् तच्छिशोर्जातकर्म ॥ ७ ॥

चतुर्लक्षकं ज्योतिराख्यं प्रसिद्धं
महाम्भोधिवच्छास्त्रमुच्चैः प्रमथ्य ।
अवाप्तप्रबोधा निजस्वान्तशुद्धा
यथाकालमामन्त्रिताः सद्विधिज्ञाः ॥ ८ ॥

महानर्घ्यरत्नादिभिः पूजितास्ते
समेता जनुःपत्रमादावनिन्द्यम् ।
विनिर्माय जातस्य दीप्त्यद्भुतस्य
ह्यभूवन् फलादेशदाने प्रवृत्ताः ॥ ९ ॥

द्वितीयं चतुर्थं तथा पञ्चमं च
शुभं सप्तमं वै दिगाख्यं च यद्धि ।
वरीवृत्यते स्थानमेकादशं च
सदा पूर्णसम्बन्धयुक्ता अमीभिः ॥ १० ॥

चतुःसंख्यका उच्चगाः सम्भवतो
ग्रहा जन्मपत्रेऽत्र दृश्यन्त इद्धाः ।
गुरुर्धर्मभाग्यस्वगेहाधिकारं
बिभर्तीति बालो ध्रुवं भाग्यवान् स्यात् ॥ ११ ॥

अयं बालको दैवतांशैरलभ्यैः
समुत्पन्न आस्ते पवित्रे कुलेऽस्मिन् ।
ग्रहैर्जन्मकाले स्थितैर्ज्ञायते यत्
स सम्राडुताहो महाज्ञानवान् स्यात् ॥ १२ ॥

विमुक्तस्य वा जीवतो वन्द्यसाधोः
सुदीर्घायुरारोग्ययुक्तस्य तस्य ।
प्रसिद्धस्य राजाधिराजस्य चापि
ग्रहाणां स्थितिर्जन्मकाले समाना ॥ १३ ॥

स्वजातेः स्वदेशस्य धर्मस्य चापि
तथाऽऽर्याख्यया संस्कृतेर्विश्रुतायाः ।
गुणैः सात्त्विकैर्भ्राजमानः प्रशस्तै-
रयं बाल उन्नायको नायकः स्यात् ॥ १४ ॥

गृहात् षष्ठतो ज्ञायतेऽस्माभिरेतद्
यदेतस्य निन्दाकृतां दुर्हृदां च ।
जगत्यल्पता नास्ति किन्तु स्वकीयैः
प्रभावैर्विजेता समेषामयं स्यात् ॥ १५ ॥

विपत्तौ शनिश्चास्य साहाय्यकर्ता
सदा दक्षिणस्थो हनूमान् कपीशः ।
अतो धीरतेजस्विनामग्रगण्यो
भवेद् बालकः शत्रुदर्पापहारी ॥ १६ ॥

समुद्धारकर्ता भवेदागमानां
विलोपं गतानां तथा दर्शनानाम् ।
सदा सारदा शारदा ज्ञाननेत्री
वसेदस्य वक्त्रे नरीनृत्यमाना ॥ १७ ॥

अनादेरनन्तस्य वै शाश्वतस्य
समस्तस्य जीवस्य कल्याणकर्तुः ।
कलौ हिन्दुधर्मस्य घोरेऽपि बालो
विधास्यत्ययं बीजरक्षामवश्यम् ॥ १८ ॥

विधेयैरनेकैः स्वकीयैः प्रशस्तै-
र्जगन्मङ्गलं साधितुं स्यात् समर्थः ।
न निष्कामकर्माचरिष्णोरमुष्य
तुलां बिभृयात् कोऽपि योगी युगेऽस्मिन् ॥ १९ ॥

शिशोरस्य दिव्याकृतेर्जन्मकाले
जनुःपत्रिका - सत्फलान्यादिशन्तः ।
नृणां भाग्यविद्याविदः सत्कृतास्ते
स्ववेश्मान्यगच्छन् प्रमोमुद्यमानाः ॥ २० ॥

स यज्ञप्रभावात्तथा चेश्वरस्य
दयाधिक्यतोऽस्यां क्षितावाविरास्ते ।
अतोऽन्वर्थवान् बालको विष्णुरूपः
स्वनाम्नाऽपि यज्ञेश्वरोऽभूत् प्रसिद्धः ॥ २१ ॥

ततो निष्क्रमान्नादिसंप्राशनाभ्यां
स्वकाले कृताभ्यां च संस्कारकाभ्याम् ।
विधानैर्महद्भिः स्ववंशानुरूपै-
र्यथाधर्मशास्त्रं शिशुः संस्कृतोऽभूत् ॥ २२ ॥

यदा पञ्चमे हायनेऽसौ प्रविष्ट-
स्तदा चौलकर्मास्य जातं मनोज्ञम् ।
शिरस्येतदीये स्थिता चारुचूडा
यथा देवतामन्दिरं भासते स्म ॥ २३ ॥

नृणां मस्तके स्थापितायां शिखाया-
ऋषीणां पितॄणां सुराणां निवासः।
अथो वासमातन्वते देवदेवा
मतं ह्येतदास्ते श्रुतीनां स्मृतीनाम् ॥ २४ ॥

इयं विद्यते बुद्धिर्जीवित्वकेतुः
ध्वजश्चार्यजातेः सदैवामृतायाः।
शुभं शिक्षयित्रीव सा वैजयन्ती
न तां धारयन्तीह जातिर्म्रियेत ॥ २५ ॥

इमां कर्तयेद् यस्तु हिन्दुर्विमोहात्
तथाऽज्ञानतो द्वेषतो वाऽपि लोके।
स्वधर्मेऽधिकारो न तस्यास्ति यावद्
भवेन्नास्य संतप्तकृच्छ्रेण शुद्धिः ॥ २६ ॥

लसच्चूड एषः प्रकृष्टार्यवेशो
निदेशाप्रमत्तो हतालस्यलेशः।
अयं बालवेशः किमन्यो दिनेशो
जनैर्वीक्षितः पाठशालां प्रविष्टः ॥ २७ ॥

गुरुः सर्वविद्याचणो ब्रह्ममूर्ति-
र्धुरीणश्च विद्वत्सु विख्यातकीर्तिः।
गणेशं च विष्णुं च वाचं रमां च
प्रपूज्याकरोदक्षरारम्भमस्य ॥ २८ ॥

यथाम्भोनिधिर्वारि कर्षत्यशेषं
समस्तानि तेजांसि तेजोनिधिश्च।
गरीयान् पदार्थो लघुं स्वानुरूपं
तथाऽस्य प्रकृष्टा मतिः सर्वविद्याः ॥ २९ ॥

धनं पूर्वजन्मार्जितं यन्नराणां
तथा पूर्वजन्मार्जिता चैव नारी।
निजा पूर्वजन्मार्जिता या च विद्या
पुरो धावतां तानि धावन्ति नूनम् ॥ ३० ॥

समाकर्णनादेव वाचां गुरूणां
द्रुतं ज्ञानमन्तः प्रकाशं वितेने।
करस्थामलक्यो यथा बोधगम्या-
स्तथाऽस्याभवन् सर्वविद्याः प्रबुद्धाः ॥ ३१ ॥

तमाश्चर्यवद् कश्चिदन्यो ब्रवीति
शृणोत्यन्य आश्चर्यवत् कश्चिदेनम्।
प्रपश्यत्यजस्रं परस्तं तथैव
परं कोऽपि तत्कारणं नैव वेद ॥ ३२ ॥

कलाविद् गुणी गायको वादको वा-
ऽभिनेता कथाकार-पौराणिको वा।
नवीनः प्रवीणोऽथवा धीरवीरो
वसन्ति स्म तद्वेश्म नैके बहुज्ञाः ॥ ३३ ॥

स्वपित्रा नियुक्तात् सुविख्यातबोधाद्
गुरोर्गायकात् तालभेदा अवाप्ताः।
विनीतेन पुत्रेण यज्ञेश्वरेण
सहस्राणि रागाश्च रागिण्य एव ॥ ३४ ॥

त्रयीवर्जमन्याश्च याः सन्ति विद्याः
श्रुता विश्रुता संस्तुताश्चात्र लोके।
धनाढ्येन पित्रा सतां सम्मतेन
सुनिष्ठापिता बालके संयतेन ॥ ३५ ॥

न तातेन तेनैष निर्भर्त्सितोऽभू-
न्न चाविष्कृता क्रोधताम्रेक्षता वा ।
स्वयं बालकेनाखिलं ज्ञानमेव
प्रपेदे द्रुतं तेन मूर्ध्ना नतेन ॥ ३६ ॥

सुतेनाशु तेन स्वमातुः पितुश्च
वितानं सुतेने यशश्चन्द्रिकायाः ।
जनन्यो जगत्स्वीदृशेनाऽऽत्मजेन
धृतेनाऽऽदृताः पुत्रवत्यो भवन्ति ॥ ३७ ॥

गुणिव्राततेजस्विनामग्रगण्यः
सुतः स्याद् यदीयो विपश्चिद्वरेण्य ।
प्रसूतिस्तदीयाऽर्थिताऽभ्यर्हिता च
तदन्याऽऽत्मजं व्यर्थमेव प्रसूते ॥ ३८ ॥

तनूजो यदा सप्तमेऽब्दे प्रविष्ट-
स्तदाऽध्यापनार्थं स्वगेहे पिताऽस्य ।
लसत्संस्कृतोर्द्वाङ्ग्लहिन्दीप्रवीणान्
धुरीणान् सदध्यापकान् संन्ययुङ्क्त ॥ ३९ ॥

मुदा बालकोऽयं हि खेलन् प्रकूर्द-
न्ननायासतोऽनेकभाषाः शिशिक्षे ।
पुरावृत्तके ज्यामितौ चाङ्कबोधे
स विज्ञानशास्त्रे च पारङ्गतोऽभूत् ॥ ४० ॥

जनेर्वाऽष्टमे गर्भतो वाऽपि वर्षे
विधिं यज्ञसूत्रस्य विप्रो विदध्यात् ।
उपानीय तं ब्रह्मविद्यां प्रयच्छेत्
पिता येन पुत्रो द्विगोत्रो न सिद्ध्येत् ॥ ४१ ॥

पिता चेदविद्वान् भवेत्तर्हि यत्नात्
स्वगोत्रीय आचार्यकर्मा विधेयः ।
इमं धर्मशास्त्रीय - सिद्धान्तवादं
स्वयं वेद माता पिता बालकस्य ॥ ४२ ॥

मधोः सूदनः सर्वशास्त्रार्थवेत्ता
ससम्मानमानीत - विद्वत्समाजः ।
स यज्ञेश्वरं यज्ञसूत्र - प्रदाता
गुरुर्देवतानामिवान्यो रराज ॥ ४३ ॥

नवस्वेषु तन्तुष्वमाङ्गल्यहृत्सु
त्रिवृत्तेषु विप्रैः समन्त्रं श्रुतिज्ञैः ।
नवानां सुराणां निवासेन नित्यं
शुभं पूतमेतत् परं यज्ञसूत्रम् ॥ ४४ ॥

ऋषेर्गोत्रभूतस्य ये पूर्वजास्ते-
ऽपि संस्थापिता यत्र सन्ति प्रवर्य्याः ।
विराजन्ति नित्यं विधि - श्रीश - रुद्राः
प्रतिग्रन्थि यज्ञोपवीतं तदास्ते ॥ ४५ ॥

शिखाग्रन्थिहीनं विना यज्ञसूत्रं
कृतं कर्म सर्वं हि तन्निष्फलं स्यात् ।
अतः श्रौतधर्मेऽधिकारोऽस्ति येषां
सदा धार्यमेतद्धि तैर्यज्ञसूत्रम् ॥ ४६ ॥

उपर्यस्ति यज्ञोपवीतस्य धर्तुर्
ऋषीणां पितॄणां सुराणामृणं हि ।
मनःकायवाचो वशे स्थापनीया
ददातीति शिक्षामिदं यज्ञसूत्रम् ॥ ४७ ॥

पवित्रं परं चास्ति यज्ञोपवीतं
प्रजानां पतेर्यत् सजातं पुरस्तात् ।
सदायुष्यमग्र्यं बुधैरर्च्यमानं
सुतेजांसि दद्यात् तथा सद्बलानि ॥ ४८ ॥

इमं पूतमन्त्रं द्विजेन्द्रः पठित्वा
तदीयं च विज्ञानकं शिक्षयित्वा ।
विनीताय शान्ताय वाचंयमाय
स आचार्यकोऽस्मै ददौ यज्ञसूत्रम् ॥ ४९ ॥

ऋचं वेदसर्वस्वभूतां त्रिपादां
शुभां त्र्यष्टवर्णात्मिकां ब्रह्मरूपाम् ।
यदाऽयं बटुः शुश्रुवान् कर्णरन्ध्रे
कृता तत्र विद्याधरैः पुष्पवृष्टिः ॥ ५० ॥

करीषैर्गवां सत्पलाशीयखण्डैः
घृताक्तैः समिद्धे च वह्नौ गवाज्यैः ।
अयं होमकर्ता बटुः पावको वा
शरीरीति तत्र भ्रमोऽभूज्जनानाम् ॥ ५१ ॥

श्रुतीः पूर्वमध्यापिपद् देशिकेन्द्राः
चतुःसंख्यकाः सस्वरास्तद्विधिज्ञाः ।
स्मृतीश्चापि सर्वाः पुराणैश्च सार्धं
ततोऽङ्गानि सैतिह्य - सद्दर्शनानि ॥ ५२ ॥

विशेषेण संपाठितः सामवेदः
सतालः सवाद्यः सनृत्यस्तथैव ।
अहो शिक्षणायास्य भूदुर्लभस्य
स साक्षाद् भवानीपतिः प्रादुरासीत् ॥ ५३ ॥

बृहत्वाच्च संबृहणत्वाच्च ब्रह्म
समाम्नातमेतच्छ्रुतिज्ञानमेव ।
शरीरस्थशुक्रं च तस्मादभिन्नं
द्विचर्यं बुधैर्ब्रह्मचर्यं प्रदिष्टम् ॥ ५४ ॥

स्वशुक्रस्य संरक्षणाद् ब्रह्मचारी
न तद् विस्मृतिं यात्यधीतेऽखिलं यत् ।
अतः स्वल्पकालात् सविज्ञानमस्य
श्रुतीनां परं ज्ञानमन्तश्चकाशे ॥ ५५ ॥

स संसर्गदोषं सदा मन्यमानः
सदाचारवर्ती विचार - प्रगल्भः ।
सुहृत्सङ्गमे भोजने वाऽथ पाने
परं चोपनीतेः शुचित्वं सिषेवे ॥ ५६ ॥

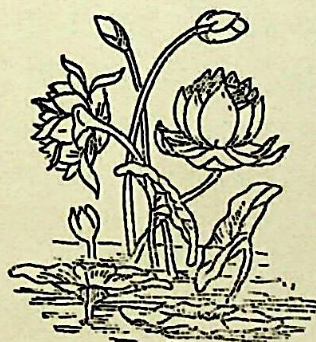
समुत्थाय बालः स मातुः पितुश्च
गुरूणां च पादान् प्रभाते ववन्दे ।
तयोः सद्गुरूणां सतां सेवया च
व्यतीयाय कालः कियानेतदीयः ॥ ५७ ॥

सदाऽध्याप्यमानः सदध्यापकानां
निदेशे वसंश्चारुवृत्तानि रक्षन् ।
प्रयत्नाद् विनैवांग्लविद्यालयस्य
स 'इण्ट्रेस'-कक्षां' सुखेनोत्ततार ॥ ५८ ॥

असौ कालिजे प्रेसिडेन्सी - समाख्ये
स्थिते विश्रुते पत्तने कालिकान्ते ।
विमृश्याङ्ग्लभाषां तदानीं हितां तां
समभ्यस्तुकामः सुतः प्रेषितोऽभूत् ॥ ५९ ॥

आङ्ग्लानां निजशासनस्य समये राष्ट्रेऽत्र सद्भारते,
भाषाङ्ग्ली प्रचचार, तामधिगतां कर्त्तुं सुसम्भाविताः ।
प्राहिण्वन् वरपत्तने स्वतनयान् प्रायो मनुष्याः समे,
श्रीशाली मधुसूदनोऽपि विबुधो यज्ञेश्वरं प्रैरयत् ॥६०॥

इति श्रीकविवर्य विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्रि विरचिते
श्रीमहर्षि-ज्ञानानन्द-चरिते महाकाव्ये
तृतीयः सर्गः ॥



॥ अथ चतुर्थः सर्गः ॥

यावत्कालं वङ्गदेशप्रसिद्धं
कालीकान्तं पत्तनं सोऽध्युवास ।
भाषामाङ्ग्लीं कालिजे शिक्षमाणः
स्वानाचारान् शास्त्रसिद्धानरक्षीत् ॥ १ ॥

ब्राह्मीं सन्ध्यां स्वीयवेदानुकूला-
मग्नौ होमं च द्विसन्ध्यं व्यधत्त ।
सर्वं वृत्तं स्वस्य वंशानुरूपं
पालं पालं सञ्चाराऽप्रमत्तः ॥ २ ॥

विप्रो वृक्षस्तस्य मूलं हि सन्ध्या
वेदाः शाखा धर्मकर्माणि पत्रम् ।
तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं
नष्टे मूले नैव शाखा न पत्रम् ॥ ३ ॥

पूर्वां काले ब्राह्मणो नानुतिष्ठेन्
नोपास्ते यः पश्चिमां चापि सन्ध्याम् ।
सर्वस्मात् सत्कर्मणोऽसौ द्विजानां
नूनं संसारे वहिष्कार्य आस्ते ॥ ४ ॥

गायत्रीमात्रेण सारेण चापि
पूज्यो विप्रः स्वीयवृत्तप्रतिष्ठः ।
त्रैविद्यो वा वैदिकाचारहीनः
सर्वस्याशी विक्रयी न प्रशस्तः ॥ ५ ॥

स्मारं स्मारं मानवीया गिरस्ताः
दुष्टाचारा विप्रवर्यैर्निरस्ताः ।
इत्येतं सद्धर्मशास्त्रीयवादं
वारं वारं बोधितोऽभूत् किशोरः ॥ ६ ॥

कालेनाल्पेनैव कालेज-विद्या-
माङ्ग्ल्यां वाण्यां कौशलं चाधिगत्य ।
वङ्गप्रान्तात् स्वीयमक्षुण्णवृत्तो
जन्मस्थानं मेरठं ह्याजगाम ॥ ७ ॥

बाल्ये काले तत्र यज्ञेश्वरे ये
सत्याहिंसाद्याश्च धर्मा निषक्ताः ।
ते कैशोरं कालमासाद्य सम्यग्
वृद्धिं याताः शुद्धचित्तं प्रपद्य ॥ ८ ॥

संस्कारा ये ह्यामभाण्डेषु विष्वक्
संक्रान्तास्ते नैव नाशं भजन्ते ।
तद्वद् बाल्ये स्थापिताः सत्प्रयासा-
दामृत्योस्ते विस्मृतिं न प्रयान्ति ॥ ९ ॥

सर्पान् दंशान् वृश्चिकान्मत्कुणादी-
नन्याञ्जीवान् घातयन्तं मनुष्यम् ।
दर्शं दर्शं ह्यन्तरङ्गं दयार्द्र-
मार्तिग्रस्तं तस्य बोभूयते स्म ॥ १० ॥

गेहे पारम्पर्यतोऽनुष्ठितं यद्
दुर्गादेव्याः पूजनं सप्रमोदम् ।
तत्र च्छागं दीयमानं बलिं तं
दृष्ट्वा चेतस्तस्य चेखिद्यते स्म ॥ ११ ॥

आलोक्येमं हन्त कालं करालं
कल्यादौ वै शास्त्रविद्भिः सुधीभिः ।
अन्यैर्वृत्तैर्धार्मिकैरेव सार्धं
दीर्घं पुण्यब्रह्मचर्यं निषिद्धम् ॥ १२ ॥

नालोक्यन्ते वर्णिनामाश्रमास्ते
प्रातः सायं सर्पिषां होमशुद्धाः ।
यत्र त्वेते वर्णिनो दीप्तिमन्तः
स्वीयाचारान् पालयन्तः पठेयुः ॥ १३ ॥

आसन् योग्यानां कुलानां पतीनां
यत्रावासा लक्षशः सद्गुरूणाम् ।
प्रत्येकं चाधीयते दिक्सहस्रं
छात्रा वासः पुस्तकानि प्रगृह्य ॥ १४ ॥

दण्डं कौपीनं तदेणाजिनं च
पात्रं शुद्धं सत्पयःपूरितं च ।
धृत्वा होमं सत्समिद्भिः प्रकुर्वन्
वेदाभ्यासी यो वसेत् सोऽस्ति वर्णी ॥ १५ ॥

एतद्धास्तेऽत्यन्तदुष्पालनीयं
घोरे काले ब्रह्मचर्यव्रतं तत् ।
नैवैतद् यः पालयेद् ब्रह्मचारी
भ्रष्टाचारोऽसौ पतत्यार्यधर्मात् ॥ १६ ॥

तस्मादाचार्यस्य सत्यानुमत्या
सस्नौ पूतैः शास्त्रदृष्टैर्विधानैः ।
पित्रोः सम्यग् वर्तमानो निदेशे
तत्सन्दिष्टो गैहिकं कर्म चक्रे ॥ १७ ॥

यो यज्ञानामीश्वरः सौकुमारः
कार्ये नित्ये तत्परोऽसौ कुमारः ।
भूस्वामित्वस्वीयकार्याणि पश्य-
न्नृद्धं रम्यं नैजवेश्माध्यवात्सीत् ॥ १८ ॥

क्लेशप्राप्यामश्वशारीयविद्यां
बन्दूकास्त्रैर्लक्ष्यभेदस्य शिक्षाम् ।
लेभे पित्रा सैनिकेशान्नियुक्तात्
कञ्चिज्जीवं किन्तु नासौ जघान ॥ १९ ॥

अश्वानां चानेकरूपं गजानां
जातिज्ञानं तस्य सम्यग् बभूव ।
येनाऽसौ संविश्रुतोऽभूत् समस्ते
ब्रह्मावर्ते तत्र तत्क्रेतृवर्गे ॥ २० ॥

आङ्ग्ली क्रीडा नैव संरोचते स्म
सानन्दोऽभूत् क्रीडने भारतीये ।
काव्यालापैः शुद्धसङ्गीतशास्त्रैः
सन्मित्रैश्च प्राप नित्यं विनोदम् ॥ २१ ॥

तन्त्रीवाद्ये सर्वमूर्धन्यभूता
वीणा ताले वाद्यराजो मृदङ्गः ।
एतद्द्वय्याः शिक्षणं साधुरीत्या
प्रीत्या चक्रे तत्तदध्यापकेभ्यः ॥ २२ ॥

भ्रौपद्यानां चैव मार्दङ्गिकाना-
मन्योन्यं चाऽऽलोक्य तीव्रां जयेच्छाम् ।
तेषां रौद्रे सङ्गरे जायमाने
रोमाण्यश्चन्ति स्म तस्य प्रमोदात् ॥ २३ ॥

त्यक्त्वा तल्पं प्रातरेव प्रबुध्य
रागैस्तालैर्गानयोग्यं प्रभूतैः ।
एकं नूनं तेन दैनन्दिनं हि
पद्यं छन्दोबद्धमालिख्यते स्म ॥ २४ ॥

कालेऽतीतेऽनेकपत्रेषु तेषु
बह्वीष्वेवं तासु सत्पत्रिकासु ।
पद्यान्यन्यस्माद्धयात् तत्कृतानि
प्राकट्यं वै तानि नीतान्यभूवन् ॥ २५ ॥

वानस्पत्यं शास्त्रमौद्यानिकं च
सत्खेटीयं चापि सत्पाशुपाल्यम् ।
तत्तत्तेषां भेदबाहुल्यकं च
बाल्यादेवैतस्य विज्ञातमासीत् ॥ २६ ॥

संख्यातीतान् भूरुहाणां लघीयः-
पोतान् देशेभ्यः समानीय यत्नात् ।
उद्यानेषु प्रोल्लसद्वीथिमत्सु
स्वीयेष्वेतान् रोपयामास सत्सु ॥ २७ ॥

योग्यं खाद्यं सुन्दरं चानुकूलं
तत्तद्योग्याः सुन्दरीर्मृत्तिकाश्च ।
स्थानेभ्यश्चानाय्य यत्नाद् बहुभ्यः
प्रीत्यै तेषां प्राक्षिपद् वाटिकासु ॥ २८ ॥

पोषं प्राप्ता बर्हिणः सारसाश्च
रम्यं गायन्तः शुकाः सारिकाश्च ।
भोज्यं पानीयं यथाकालमेव
तेभ्योऽनेकेभ्यः स्वयं दीयते स्म ॥ २९ ॥

स्वीट्जरलैण्डात् फ्रांसतोऽमेरिकातो,
रूसादांग्लादन्यतश्चापि देशात् ।
उद्यानीयां पद्धतिं ज्ञातुकामो-
ऽनेकान् ग्रन्थानानयन् संपपाठ ॥ ३० ॥

दुग्धानां सन्सर्पिषां साधुदध्नां
सत्ताभावात् को रसो भोजनानाम् ।
तस्माद् गावः पालिता या महिष्य-
स्तासां सेवां स स्वयं संव्यधत्त ॥ ३१ ॥

गोमायूनां सारमेयादिकानां
कामं यातां दक्षिणे वापि वामे ।
काकादीनां पक्षिणां चैव सत्ये
रौतज्ञानेऽभूत् समर्थः स तेषाम् ॥ ३२ ॥

भृत्या येऽन्ये कर्मकाराश्च तेन
स्वीये कार्ये ह्येकवारं नियुक्ताः ।
दायं दायं वेतनं चानुरूपं
रक्षां नीताः शश्वदाजीवनं ते ॥ ३३ ॥

आयुर्वेदे तन्त्रशास्त्रे च गुप्ता
ओषध्यो या रोगनाशे समर्थाः ।
अन्या नैका वीजरम्भादिजाता-
स्तस्यैतासां ज्ञानमासीदनन्तम् ॥ ३४ ॥

एतज्ज्ञानं 'मुष्टि-योग'स्य नाम्ना
विख्यातासु प्रायशः पत्रिकासु ।
उद्भूतं चात्यद्भुतं नैकवारं
सद्भिर्विज्ञैस्ताः पठद्भिर्व्यलोकि ॥ ३५ ॥

आहेयं चात्यन्ततीव्रं विषं वा
ह्यापस्माराः कौष्ठवातार्शसाश्च ।
अन्ये ये च व्याधयो दुश्चिकित्स्या-
स्तेषां नाशो दर्शितो 'मुष्टियोगे' ॥ ३६ ॥

भङ्गासङ्गान् गञ्जिकां धूम्रवर्ती
द्रव्यं चान्यन्मादकं सेवमानान् ।
दत्त्वा दत्त्वाऽसौ सदाचारशिक्षां
तद्व्यासङ्गात्तान् दुरन्तान्न्यरौत्सीत् ॥ ३७ ॥

पत्यौ विश्वेषां परे देवदेवे
स्वान्ते तस्याहैतुकी भक्तिरासीत् ।
बुद्धिः संशुद्धौ मनोदेहवाचां
तीव्रोत्कण्ठा चापि निर्वाणमुक्तौ ॥ ३८ ॥

गङ्गा गायत्री स्वभूर्गौश्च माता
साम्यं चैतासां समाम्नातमास्ते ।
किन्त्वेताभ्यश्चापि माता विशिष्टं
तस्य स्वान्ते गौरवस्थानमासीत् ॥ ३९ ॥

सत्यासत्यं यत्कृतं यच्छ्रुतं वा
भुक्तं स्पृष्टं घ्रातमाहोस्विदन्यत् ।
दृष्टं स्पृष्टं सर्वमादौ निवेद्य
प्रातः सायं मातृपादौ ववन्दे ॥ ४० ॥

आद्याया या शक्तितो नास्ति भिन्ना
यस्यां तीर्थानि प्रकामं वसन्ति ।
सा माता येनार्चिता मानिता च
सर्वे कामास्तस्य सिद्ध्यन्ति नूनम् ॥ ४१ ॥

स्वीये चित्ते सम्परिज्ञाय चैतन्-
माता स्वीया सेविता तेन नित्यम् ।
नूनं तस्या आशिषां सम्प्रसादात्
सोऽयं कालेऽन्वर्थं यज्ञेश्वरोऽभूत् ॥ ४२ ॥

दृष्ट्वा सूनुं क्रान्तकैशोरकालं
रम्यां प्राप्तं तां दशां यौवनीं च ।
तातो विज्ञः सुप्रसन्नान्तरात्मा
तद्वैवाहं कर्म कर्तुं समैच्छत् ॥ ४३ ॥

निश्छन्दो यद् रोमशार्शोयुतं च
पुंभिर्हीनं गर्हितं वा क्रियाभिः ।
क्षय्यापस्मारामयं श्वित्रिकुष्ठि-
वर्ज्यान्येतान्यासते दिक् कुलानि ॥ ४४ ॥

रोगा नैके सन्ति संक्रामका ये
ते वै नूनं दोषमुत्पादयन्ति ।
तस्माद् रोगाक्रान्तमृद्धं च वंशं
यत्नात् त्याज्यं प्रोक्तवन्तो मुनीन्द्राः ॥ ४५ ॥

वाचाटा या रोगिणी पिङ्गलाक्षी
लोम्नाहीना तेन च व्याप्तदेहा ।
केशैर्युक्ता कापिलैर्निन्द्यरूपैः
कन्या वर्ज्या चाधिकाङ्गी कुरूपा ॥ ४६ ॥

अव्यक्ताङ्गी सौम्यनाम्नी तथैव
मृद्वङ्गी या हस्तिहंसप्रयाणा ।
नातिस्फूर्जद्दन्तलोमौष्ठनासा
भार्या चैषा दारकार्ये प्रशस्ता ॥ ४७ ॥

वृक्षर्क्षाणांनामतो या प्रसिद्धा
नद्या नाम्ना पर्वतान्त्याख्यया च ।
आस्ते या वै पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नी
प्रोक्ता भार्या वर्जनीया मुनीन्द्रैः ॥ ४८ ॥

यस्या भ्राता नो भवेत् कन्यकायाः
किं वा यस्या नोपलभ्येत तातः ।
यद्यप्येषा सर्वथा दोषशून्या
नैवोद्वाह्या पुत्रिकाधर्मभीत्या ॥ ४६ ॥

या च स्वस्मात् पितृतो मातृतो वा
न स्यात्कन्या सप्तमी पञ्चमी च ।
नैवोत्पन्ना स्वे समानार्षगोत्रे
शस्ता साऽऽस्ते दारकृत्ये सवर्णा ॥ ५० ॥

कर्तुं कामेनात्मजोद्वाहकृत्यं
पित्रा नेत्रा धर्मवित्पुङ्गवानाम् ।
सर्वैः सद्भिर्लक्षणैरभ्युपेता
निर्णीताऽभूत् कन्यका नग्निका च ॥ ५१ ॥

स्नातो विप्रो न प्रपद्येत सद्यो
गार्हस्थ्यं चेत्कर्म चातन्द्रितः सन् ।
प्राजापत्यं द्विश्चरेदाविवाहात्
प्रत्यब्दं वा दक्षिणां तस्य दद्यात् ॥ ५२ ॥

पालं पालं शास्त्रदृष्टं विधानं
श्रावं श्रावं सद्गुरोर्धर्मशिक्षाम् ।
अग्नेः साक्ष्ये ब्राह्मणानां च मध्ये
भार्यापाणिं पाणिनाऽपीडयत् सः ॥ ५३ ॥

तस्मात्कालात् सद्गृहस्थाश्रमस्य
ये ये धर्मा धर्मशास्त्रे निरुक्ताः ।
तेषां सर्वेषां सदा पालनेऽसौ
प्रेयान् पित्रोः संरतोऽभूत्तनूजः ॥ ५४ ॥

ब्राह्मोऽध्यायस्तर्पणं पितृयज्ञो
होमो दैवो ह्यातिथेयो नृयज्ञः ।
भूतानां यस्तर्पको भूतयज्ञो
यज्ञा एते पालितास्तेन नित्यम् ॥ ५५ ॥

दैवं कर्माऽहर्निशं च प्रकुर्वन्
नृभ्यो भूतेभ्यः पितृभ्योऽन्नदानम् ।
स्वाध्याये स्वे नित्ययुक्तो द्विजोऽभू-
ल्लोकान् रक्षन् स्थावराञ्जङ्गमांश्च ॥ ५६ ॥

ब्रह्माण्डे ये प्राणिनः सन्ति सर्वे
जीवन्त्येते वायुमेवाश्रयन्तः ।
आधारत्वात् सर्वधर्माश्रमाणां
श्रेष्ठः शास्त्रे सद्गृहस्थः प्रदिष्टः ॥ ५७ ॥

कान्ता तस्य प्रेयसी चातिसाध्वी
पातिव्रत्ये स्वीयधर्मे रताऽऽसीत् ।
सौख्यं दाम्पत्यं गृहे यत्र लब्धं
तद् वै स्वर्गो भूतले प्रोक्त आस्ते ॥ ५८ ॥

यस्मिन् गेहे नादृता चैव भार्या
कालं क्रन्तेद्धन्त रोरुद्यमाना ।
लक्ष्मीस्तस्मान्निस्सरन्तीव दृष्टा
दुःखं नित्यं तत्र संबोभवीति ॥ ५९ ॥

धर्मात्मानौ द्वौ सुतौ कन्यके द्वे
सद्वृत्ते ते शैलजायाः समाने ।
पित्रोश्चत्वारो बभूवुः सदैव
सन्तानास्तेऽतिप्रिया प्राणतोऽपि ॥ ६० ॥

आसीद् गेहे तस्य पूर्णा समृद्धि-
स्तुल्यं देवेन्द्रस्य सर्वं सुखं च ।
औदासीन्यं किन्तु सौख्ये समृद्धौ
भेजेऽकस्मात्तस्य शुद्धान्तरङ्गम् ॥ ६१ ॥

विरक्तमनसं सुतं बहुविधं च सांसारिकं
विधानमिह शिक्षितुं परिचयं च लब्धुं परम् ।
वरेण्यवणिजां सताममितबुद्धिसम्पज्जुषां
पुरेन्द्र कलिकान्तके प्रहितवान् समृद्धः पिता ॥

इति श्रीकविवर्य विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्रि विरचिते
श्रीमहर्षि-ज्ञानानन्द-चरिते महाकाव्ये
चतुर्थः सर्गः ॥



॥ अथ पञ्चमः सर्गः ॥

सदा सदाचारपरः परेशे
मनो दधानो विधिना समानः ।
सम्मानदोऽन्यस्य गुणैकभूमिः
स्वयं ह्यमानो मधुसूदनोऽभूत् ॥ १ ॥

त्रिकालसन्ध्यां न जहौ कदाचिद्
गृहस्थसेव्यानपि पञ्च यज्ञान् ।
समागतश्चौदरिकोऽस्य गेहात्
पराङ्मुखो नैव कदाऽप्यगच्छत् ॥ २ ॥

स उष्णगोरभ्युदयात् पुरैव
न्यवर्तयद् ब्राह्मविधिं समस्तम् ।
न जात्वनीत्वाऽस्तमियाय सूर्यः
सपुष्पगन्धाक्षतमर्घ्यमस्य ॥ ३ ॥

अशक्नुवन् पालयितुं स्ववृत्तिं
प्राप्ते कलौ पापिनि विप्रवर्यः ।
जीवेत् सुखं क्षत्रियवैश्यवृत्त्या
त्यजेदसौ गर्हितशूद्रवृत्तिम् ॥ ४ ॥

व्यापारशास्त्रस्य च पारदृश्वा
विद्वान् सुमेधाः प्रबभूव विप्रः ।
अतः स्ववाणिज्यबलेन कोटी-
र्विश्वस्य विश्वस्ततयाऽर्जयत् सः ॥ ५ ॥

प्रकाण्डमाखण्डलधाम बिभ्रत्
स पण्डितो हि श्रुतिवित् प्रशस्तः ।
स्तवं महिम्नः शिवताण्डवं च
पठन् पशूनां पतिमालुलोके ॥ ६ ॥

उवाच शम्भुः—प्रियपुत्र ! नैवं
मद्दर्शनं केनचिदस्ति लभ्यम् ।
धर्मात्मनां त्वं धुरि कीर्तनीयः
तस्मादभूवं नयनातिथिस्ते ॥ ७ ॥

यज्ञेश्वरे न्यस्तसमस्तकर्मा
हर्म्याद्यनन्तं विभवं च हित्वा ।
समेधि विद्वन्नतिनिःस्पृहस्त्वं
गन्ताऽसि मद्धाम निवर्तशून्यम्, ॥ ८ ॥

ततो द्वितीये दिवसे द्विजन्मा
परार्दितोऽभूद् विषमज्वरेण ।
सद्द्राक्तरैर्हन्त च सद्भिषग्भिः
चिकित्सितश्चापि सुखं न लेभे ॥ ९ ॥

पितुः सरोगस्य स रोगवार्ता
तन्त्र्या समासाद्य सुतश्चिखेद ।
विख्यातनाम्नः किल कालिकान्तात्
सम्प्रस्थितो मेरठमाजगाम ॥ १० ॥

नतस्य पुत्रस्य पिता स्वपादा-
वाशीर्भिरभ्यर्च्य शिरश्च जघ्रौ ।
न तस्य चित्ते जनकस्य पुत्र-
सन्दर्शनात् तत्र ममौ प्रमोदः ॥ ११ ॥

पित्राऽऽत्मजोऽसौ कुशलानि पृष्टः
पितुर्वरेण्यौ चरणौ सिषेवे ।
सदौषधैश्चाप्यनुकूलपथ्यैः
सदोत्सुकः सन् ववृते शुभंयुः ॥ १२ ॥

पितुः स पुत्रः सरसीरुहाङ्घ्रि-
द्वयं समाश्रित्य समादरेण ।
अश्रावयत् सोपनिषत् पुराणं
गीतां तथा भागवतं समग्रम् ॥ १३ ॥

अवाप्य चाध्यात्मिकभावपूर्ण-
सद्ग्रन्थ-संग्रन्थित-तत्त्वबोधम् ।
तदन्तरङ्गे समुदैत् परेशे
भक्तिश्च वैराग्यमभूतपूर्वम् ॥ १४ ॥

प्रसन्नचेता विमलान्तरात्मा
सर्वैषणातो विरतो मनस्वी ।
विविक्तदेशं भवनं स्वकीयम्
अर्धाङ्गिनीमात्मजमाजुहाव ॥ १५ ॥

विस्मृत्य सर्वं निजरोगशोकं
जगाद धीरध्वनिनाऽऽगतौ तौ ।
उदीर्यमाणं वचनं मयेदं
ध्यानाद् युवाभ्यां श्रवणीयमास्ते ॥ १६ ॥

समाप्तमायुर्मम जीवनस्य
प्रस्थातुकामोऽस्मि भवादितोऽहम् ।
भवो भवानीपतिरस्ति दृष्टो
भवार्णवोत्तारयिता प्रभुर्मे ॥ १७ ॥

प्रवर्तिता ये मम दानधर्माः
समर्चना मन्दिर-देवतानाम् ।
सहायताश्चाश्रित-मानवानां
संरक्षणीयाः सततं प्रयत्नात् ॥ १८ ॥

ये सन्ति नित्याः स्वपरम्परातो
नैमित्तकाश्चापि कुलस्य धर्माः ।
व्रतानि चान्यानि महोत्सवा ये
प्रचारमश्नन्ति गृहे, न हेयाः ॥ १९ ॥

सम्पत्तयोऽम्भःस्थित-बिन्दुलोलाः
प्रकोपमायान्ति सुरक्षणेन ।
आसां तडागोदर-संस्थिताना-
मपां परीवाह इवास्ति रक्षा ॥ २० ॥

धनार्थिनो ये किल भूमिदेवा
विद्यार्थिनः कर्मकराश्च दासाः ।
कार्येषु चान्येषु नियोजिता ये
कदापि गेहान्न बहिर्विधेयाः ॥ २१ ॥

हितां हि ताभ्यामुपदिश्य वाचं
हित्वा च पर्यङ्कमसौ स्वकीयम् ।
पद्ममासनस्थोऽथ कुशासनस्थो
योगप्रयोगेण जहौ निजासून् ॥ २२ ॥

बुधाश्रयश्चाद्रिरसौ विशीर्णः
सुवर्णरूपो महितः सुमेरुः ।
समूलमुन्मूलित एष हन्त
सर्वार्थिसन्तोपदकल्पवृक्षः ॥ २३ ॥

मनीषिणां कामदुघाऽद्य धेनुः
सा यज्ञसर्वस्वमहो विलुप्ता ।
अनन्त-जीवाश्रित-जीवनोऽयं
रत्नाकरश्चाद्य भृशं ह्यशुष्यत् ॥ २४ ॥

गेहे वसन्तः सकलाः सशोकाः
लोका रुदन्तः सहसा समेत्य ।
बाला अबाला ह्यबलाश्च
सर्वा विचुक्रुशुस्तत्र शरीरपातम् ॥ २५ ॥

तं वैद्युतं रंह इव प्रसर्पद्-
देहान्तवृत्तान्तमिमं निशम्य ।
विषीददन्तःकरणाः पुमांसः
स्त्रियश्च कारुण्यहृदः समीयुः ॥ २६ ॥

समागता मेरठ-सर्वभागाद्
दुर्वादमेतं समवाप्य सर्वे ।
हा हन्त हन्तेति वचः समन्ताद्
उदीरयामासुरमी जनौघाः ॥ २७ ॥

ते संहता अन्यवपुःप्रसूता
आचक्रिरे यत् करुणं विलापम् ।
न तेन शक्या न दशाऽनुमातुम्
असह्यशोकार्दितपुत्रमात्रोः ॥ २८ ॥

तौ सान्त्वयन्तः परिवार्य सर्वे
संनोदयामासुरिहान्त्यकृत्यै ।
स धीरधीरः पितुरध्वरेशो
दाहक्रियां कर्तुमसौ प्रवृत्तः ॥ २९ ॥

गङ्गाम्बुभिः सद्घटसंभृतैश्च
मृतात्मनः स्नापितसर्वगात्रम् ।
वपुः समाच्छाद्य सुदुर्लभेन
नवीनपट्टाम्बरयुग्मकेन ॥ ३० ॥

सकेसरैः सैणमदैः प्रशस्तैः
कर्पूरयुक्तैर्हरिश्चन्दनैश्च ।
द्रव्यैः स्तुतैः कायविशोधनैश्च
सम्यग् विलिप्याङ्गमशेषमस्य ॥ ३१ ॥

बिल्वैः पलाशैः सितचन्दनैश्च
घृताक्तपूतां चितिमारचय्य ।
कर्णाक्षिनासावदनस्य रन्ध्रं
विधाय सर्वं हि सुवर्णपूर्णम् ॥ ३२ ॥

सुतोऽप्यसौ मुण्डितमस्तकः सन्
स्नात्वा च धृत्वा शुचि वस्त्रयुग्मम् ।
कृत्वा च तात्कालिकपिण्डदानं
जुहाव मन्त्रैश्च शवं चिताग्नौ ॥ ३३ ॥

समन्त्रमस्थीनि च सञ्चितानि
दशाहमध्ये व्यसृजत् त्रिवेण्याम् ।
त्रिषोडशीश्राद्धमनेकपिण्डं
सपिण्डनान्तं विधिवच्चकार ॥ ३४ ॥

विप्राः सदाचारपवित्रदेहाः
यशस्विनश्चापि मनस्विनश्च ।
श्रद्धादृताभ्यस्त - समस्तवेदाः
सन्तर्पिताः सादरभोजनाद्यैः ॥ ३५ ॥

ज्ञातींश्च बन्धूनपि बान्धवान् स्वान्
दरिद्रनारायण - संज्ञकांश्च ।
सहस्रशः स्वप्रतिवेशिनोऽन्यान्
सन्तोषयामास सुधाशनेन ॥ ३६ ॥

नीलं समुत्सृज्य वृषं वरेण्यं
संवत्सरान्ते च गयां गतः सन् ।
विष्णोः पदेन्यत्र च पिण्डदानं
कृत्वा पितॄनाशु समुद्धार ॥ ३७ ॥

स्थितौ निदेशप्रतिपालनेन
मृतौ पितुर्भूर्यमृताशनेन ।
तत्पिण्डदानेन तथा गयायां
त्रिभिर्हि पुत्रस्य सुपुत्रताऽऽस्ते ॥ ३८ ॥

यज्ञेश्वरस्तातवियोगतप्तो
नासौ गृहेभ्यः स्पृहयाञ्चकार ।
उद्यानभूमेः सुविविक्तदेशे
ह्यरीरचत् पत्रतृणाश्रमं स्वम् ॥ ३९ ॥

वियुज्य रामाद् भरतो हि नन्दि-
ग्रामे वसन् संयमितान्तरात्मा ।
सम्पूर्णमायोध्यिकराज्यकार्यं
सम्पादयामास निरस्ततन्द्रः ॥ ४० ॥

सदैव सन्तप्तमना यथाऽसौ
राज्यस्य कोषादिकसम्पदश्च ।
संवर्धयामास सतः प्रयत्नात्
लोकानुरक्तिं च यथा तथैव ॥ ४१ ॥

पितुर्वियुक्तो निजमातृदेव्याः
अनुज्ञया स्वप्रतिभाबलेन ।
व्यापारकार्याणि चकार किन्तु
मनस्तदीयं नहि तेष्वरंस्त ॥ ४२ ॥

स्ववाटिकानिर्मितपर्णगेह-
मेकान्तमध्युष्य निरन्तरेण ।
आध्यात्मिकं तत्त्वमयं बुभुत्सु-
र्ग्रन्थाननेकान् पठितुं प्रवृत्तः ॥ ४३ ॥

तदीयतच्चिन्तनसत्प्रभावात्
समागमन् विश्रुतशेमुषीकाः ।
अपारविद्यार्णवमन्थने ये
स्वीयं महान्तं समयं विनिन्युः ॥ ४४ ॥

परस्परालापमुखेन पूर्व-
जन्मार्जिता संविदुदैदपूर्वा ।
विलुप्ततेजा इव शुद्धशाण-
सङ्घर्षणाद्धीरकरत्नपिण्डः ॥ ४५ ॥

अनेकशो ब्राह्मणसंहितादि
रामायणं भागवतं तथैव ।
पूर्णं महाभारतमप्रमेयं
पपाठ सर्वं समनो निवेशम् ॥ ४६ ॥

अर्थस्य विश्वस्य च शासनस्य
शास्त्राणि यान्याधुनिकानि सन्ति ।
अध्यैष्ट तद्राजसमाजनीति-
ग्रन्थांश्च लोके प्रचरन्ति ये च ॥ ४७ ॥

श्रुतिस्मृतीनामथ दर्शनानां
पुराणतन्त्रादिसदागमानाम् ।
विज्ञानवज्ज्ञानमनेकरूपं
तस्याशु हस्तामलकत्वमाप ॥ ४८ ॥

शारीरिकं ब्रह्मयुतं च सूत्रम्
अष्टोत्तरं चोपनिषच्छतं च ।
गीता तथा भागवती सुधीभिः
प्रस्थानपूर्वंत्रयमाचचक्षे ॥ ४९ ॥

एतत्त्रयालोचनमात्मतृप्त्यै
प्रकुर्वतस्तस्य महत्तमस्य ।
साकं बुधेन्द्रैः सकलैरदर्शि
महान् हि पारस्परिको विवादः ॥ ५० ॥

श्रुतिः समग्रा किल कर्म-भक्ति-
ज्ञानेति काण्डत्रयसंविभक्ता ।
अन्योन्यभिन्नार्थकदर्शनानि
काण्डत्रयस्य प्रतिपादकानि ॥ ५१ ॥

संवित्सु मूर्धन्यमनिन्द्यरूपम्
अद्वैतमेव प्रथितं पृथिव्याम् ।
अतो हि नानात्वविभेदशून्यं
तद् ब्रह्मसूत्रं कलयन्ति विज्ञाः ॥ ५२ ॥

भेदा अनन्ता अपि ये क्रतूनां
तत्साधनानि प्रथितानि यानि ।
प्रदर्शितं तन्निखिलं हि यत्र
सम्प्राप्यते जैमिनिदर्शनं तत् ॥ ५३ ॥

किमस्ति यज्ञात्मकमेव कर्म
हंहो न चैतत् प्रतिपादनीयम् ।
अनन्तविश्वं किल कर्मणैव
सञ्चाल्यते चेति वदन्ति वेदाः ॥ ५४ ॥

अनीश्वरं जैनमथापि बौद्धं
तत्कापिलं ह्यास्तिकदर्शनं च ।
ब्रह्माण्डसङ्घात-नियामकत्वे
कर्माणि तत्कारणमाननन्ति ॥ ५५ ॥

जन्मान्तरं तत्सुखदुःखभोगा
ये प्राणिनः स्थावरजङ्गमाश्च ।
वर्णाश्रमाश्चेत्यखिलानि लोके
नियन्त्रितानीह तु कर्मणैव ॥ ५६ ॥

यमो महेन्द्रो विधिविष्णुरुद्राः,
अन्तर्जगच्छासन संरता ये ।
शास्तार आहोस्विदनेकरूपा
भुवीह ये तेऽपि च कर्ममूलाः ॥ ५७ ॥

एतादृशं कर्मकलापरूप-
वैचित्र्यमादर्शयतोऽत्र लोके ।
तत्कर्ममीमांसन-दर्शनस्य
पूर्वार्धमस्त्यस्य विलोपमाप्तम् ॥ ५८ ॥

उपासनायाः परमेशभक्ते-
र्न लभ्यते दार्शनिकी व्यवस्था ।
तद्ब्रह्मसूत्राणि विभिन्नभाष्यै-
र्भक्तिप्रधानानि कृतानि भक्तैः ॥ ५९ ॥

रागात्मिका चाप्यपरा परा च
वैधी च गौणी बहुभेदभिन्ना ।
विवेचिता यत्र तदस्ति लुप्तम्
उपासना-दर्शनमप्यपूर्वम् ॥ ६० ॥

एतद्धि यज्ञेश्वरदेवशर्म-
मुखाद् विनिष्क्रान्तवचो निशम्य ।
उपस्थिता पण्डितमण्डली सा
समर्थयामास परं प्रसन्ना ॥ ६१ ॥

उपासनानामपि कर्मणां च
द्वे दर्शने ये तु विलोपमाप्ते ।
आविष्कृते ते निरवद्यरूपे
कालान्तरे तेन तपोबलेन ॥ ६२ ॥

उद्यानवासोऽपि च शास्त्रचिन्ता
विद्वद्भिरासीत् सह सङ्गतिश्च ।
तथापि वैराग्यवतोऽस्य चित्ते
कुटुम्बवासो गरलायते स्म ॥ ६३ ॥

संसारे निगमागमादिसकलं शास्त्रोच्चयं धारयन्
श्रौतस्मार्त्त विधानसाधनपरो नित्यं गृहस्थाश्रमे ।
विद्वद्भिः सह संगतिंच विदधद्धर्मात्मवृन्दार्चितः,
शान्तिं नाभ्युपगच्छतीह भुवने वैराग्यवान् पूरुषः ॥६४॥

इति श्री कविवर्य विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्रिविरचिते श्रीमहर्षि-
ज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये पञ्चमः सर्गः ॥



॥ अथ षष्ठः सर्गः ॥

निजकर्मणि गैहिके रतः स जनैः प्राकृतिकैर्व्यलोक्यत ।
जनयन्न कदापि बुद्धिमान् जनसाधारणचेतसि भ्रमम् ॥ १ ॥

सहजं स्वविधेयमाचरन्
विविधं स्वाश्रमसेवितं सदा ।
मतिमांस्तु विपश्चिदग्रणी
रमयेत् प्राकृतिकान् स्वकर्मसु ॥ २ ॥

विनतेन च मातुराज्ञया
सहजातात्मसमीहया विना ।
विबुधेन्द्रनुतेन तेन वै
ह्यवशाद् दारपरिग्रहः कृतः ॥ ३ ॥

सहजाः पतिपुत्रकैः समं
निलयं स्वं परिहृत्य ऋद्धिमत् ।
न्यवसन् वसुशालिनः शुभे
सहजस्यैव गृहे निरन्तरम् ॥ ४ ॥

भगिनीपति - भागिनेयका
अपरे तत्सहजाश्च बान्धवाः ।
बहुशः प्रतिबोधिता अपि
प्रबभूवुश्च कुमार्गगामिनः ॥ ५ ॥

असदाचरणेन हेतुना
प्रतिरुष्टं तमवाप्य तद्द्विषः ।
जननीमुपसृत्य तस्य ते-
ऽनृतनिन्दां बहुधा प्रचक्रिरे ॥ ६ ॥

स्वसुतं परिनिन्द्य सर्वथा
बत तेभ्यः स्पृहयाञ्चकार सा।
घटिता घटनेयमीदृशी
भवति प्रायश एव वेश्मसु ॥ ७ ॥

कुपथाश्रितनैजसोदरा-
पतयस्तत्तनयाश्च नित्यशः।
व्यदधुर्यदकृत्यमद्भुतं
तदभूद् वह्निघृताहुतेः समम् ॥ ८ ॥

भुवि मौक्तिकदुग्धचेतसां
प्रकृतौ साम्यमुदाहृतं जनैः।
विगुणानि भवन्ति तानि चेन्
निजरूपं न पुनः प्रयान्ति वै ॥ ९ ॥

भगिनी-तनुजश्च कन्यका-
पतिरग्निश्च सुदुष्टमानवः।
उपकारमिमे न मन्वते
ह्यपरः कृष्णभुजङ्गमस्तथा ॥ १० ॥

प्रकृतिः किल यस्य यादृशी
नहि यत्नात् परिवर्तते क्वचित्।
सहितः सितशर्करादिभिः
न च निम्बो विजहाति तिक्तताम् ॥ ११ ॥

अपरे च तदीय - बान्धवा
निजवंशस्य परम्परां यदा।
रुचिरां परितत्यजुस्तदा
प्रबलां ग्लानिमवाप तन्मनः ॥ १२ ॥

भवितव्यतया तथाविधे-
बलवत्या च समीहयाऽथवा ।
मनसः प्रतिकूलतां गतं
घटितं वृत्तमनेकमीदृशम् ॥ १३ ॥

यतिशङ्कर-याज्ञवल्क्ययो-
स्तुलसी - सूर - कबीरवाग्मिनाम् ।
शतशो महतां च जीवने
किमपि ह्यस्ति विरक्तिकारणम् ॥ १४ ॥

हृदयं गृहकर्मतो ह्यतो
नितरां तस्य विरक्ततां गतम् ।
रमते न च कुत्रचिद् गृहे
यतमानस्य भृशं प्रयत्नतः ॥ १५ ॥

अखिलैर्निजपारिपार्श्वकै-
रपरैर्मित्रगणैरनेकधा ।
बहुभिः परिबोधितोऽपि सन्
गृहहानं सुविनिश्चकाय सः ॥ १६ ॥

स्वगुरुं प्रणिपत्य सादरं
निजसंन्यासविधौ स पृष्टवान् ।
गुरुरित्थमुवाच सन्मते !
शृणु जिज्ञासितवृत्तनिर्णयम् ॥ १७ ॥

यदि चापि पथद्वयं मतम्,
ऋषिभिर्विश्रुतसांख्ययोगयोः ।
परमादृतमेतदेव तैः
परमं सांख्यमतं भुवस्तले ॥ १८ ॥

नहि लक्ष्यविभिन्नता तयोः
कथिता क्वापि च वेदपारगैः ।
उभयेन पथा हि गच्छतां
भविता मुक्तिरिदं विदां मतम् ॥ १९ ॥

विहितः किल सांख्यनामकः
शुचि - संन्यासपथोऽग्रजन्मनः ।
इतरस्य कृते तु सम्मतो
भुवने योगपथो विपश्चितः ॥ २० ॥

ग्रहणं निजनैष्ठिकव्रतात्
परतो न्यासविधेः प्रकीर्तितम् ।
अथवा स्तुतराजमार्गवद्
भुवि सम्मानित आश्रमक्रमः ॥ २१ ॥

अपरात् परमाश्रमान्तरे
गमने नास्ति निपातशङ्कनम् ।
इति चिन्तयता मनीषिणा
नहि हेयः किल मार्ग एषकः ॥ २२ ॥

यदहो विरजेत् तदैव वा
गृहतः प्रव्रजनं चरेद् बुधः ।
इह नैष्ठिकमार्गतो गति-
र्नितरामस्ति भयावहा कलौ ॥ २३ ॥

सुसमाप्य ऋणत्रयं निजं
पितृ - देवर्षि - निबन्धनात्मकम् ।
विदुषां विमलान्तरात्मनां
शुभसंन्यासविधिः प्रकीर्तितः ॥ २४ ॥

प्रथमः कथितः कुटीचरः
परमेतस्य बहूदकः स्मृतः ।
परतोऽस्ति च हंसनामकः
परमो हंस उदीरितः परः ॥ २५ ॥

इति भेदचतुष्टयं बुधैः
प्रथित - न्यासविधेरुदीरितम् ।
श्रुतितः स्मृतितश्च सम्मतं
सकलैः शाश्वतशास्त्रकोविदैः ॥ २६ ॥

इह चैकतमं समाश्रयन्
अनुसृत्य त्वधिकारमात्मनः ।
विजितेन्द्रिय - योगसाधको
द्विजजन्मा मनुजो विमुच्यते ॥ २७ ॥

विषमे कलिकाल आगते
परिरक्षा भुवि तस्य दुष्करी ।
इति साधु विचिन्त्य धीधनै-
र्वनवासाश्रम एष वर्जितः ॥ २८ ॥

स्वगुरोरिति शास्त्रनिर्णयं
सविवेकं सुविभाव्य मानसे ।
अधिगत्य च तस्य सम्मतिं
भवनं त्यक्तुमसौ समुद्यतः ॥ २९ ॥

विषयेषु विरागिताऽभवत्
गृहवासो विषतुल्यतां गतः ।
अपि तस्य विरक्तमानसं
स्पृहयामास न गेहकर्मणे ॥ ३० ॥

स्वसुतं समुदासिनं परं
गृहसंन्यासविधौ समुत्सुकम् ।
जननी परिचिन्त्य चिन्तया
विषसादाऽथ तमेत्य चाऽवदत् ॥ ३१ ॥

अयि पुत्र ! विना त्वया कथं
गमयिष्यामि भुवि स्वजीवनम् ।
अपराद्धमहो मयाऽस्ति ते
किमपि त्वं बत यज्जहासि माम् ॥ ३२ ॥

उदरे परिरक्षितो भवान्
अहह क्लेशसहस्रमात्मनः ।
गणितं न मया कदाऽपि तत्
सदयीभूय मयि प्रसीदतु ॥ ३३ ॥

त्वमिव स्वगृहाद् विनिर्गतः
सुतदारानपहाय दुःखितान् ।
इह वैदिककालतश्चिराद्
इतिहासे न विलोक्यते क्वचित् ॥ ३४ ॥

स शुको ह्यनपत्यदारकः
सुतहीनः खलु याज्ञवल्क्यकः ।
अविवाहित-शङ्करोऽभवत्
वद विप्रेषु क ईदृशः श्रुतः ॥ ३५ ॥

जनको वसुदेवनन्दनः
प्रथितः शान्तनवश्च राघवः ।
अपरे शतशो गृहस्थिता
निजमादर्शमदर्शयन् भुवि ॥ ३६ ॥

शयितान् निजदार-दारकान्
परिहृत्यात्महितस्य वाञ्छया ।
अतिरौद्रनिशीथ उत्थितः
सुगतोऽसौ गतवान् वनं गृहात् ॥ ३७ ॥

अतिमानुषमेतदद्भुतं
हृदयद्रावककर्म निर्दयम् ।
इतिहाससमर्थितं च तत्
सुत नैवास्ति मनोरमं मम ॥ ३८ ॥

नितरां कठिनोऽस्ति निर्गुणे
परमे ब्रह्मणि चेतसो लयः ।
परिभावय मानसे निजे
विरम स्वादसतः प्रयत्नतः ॥ ३९ ॥

अपि संयमितेन्द्रियः पुमान्
मनसा यो विषयान् निषेवते ।
न च सिद्धिरमुष्य सम्भवा
ह्यसदाचाररतः स उच्यते ॥ ४० ॥

अविचारितकर्मणां गति
र्नितरामस्ति भयावहा भुवि ।
वरयन्ति विपश्चितां वरं
गुणगेहं स्वयमेव सिद्धयः ॥ ४१ ॥

अथ चात्रि-वशिष्ठ-कश्यपा-
स्तव गोत्र - प्रवर - प्रवर्तकाः ।
बृहतां पतिरङ्गिरा ऋषिः
स भरद्वाजमुनिश्च सत्तमः ॥ ४२ ॥

अपरे शतशो मुनीश्वरा
गृहमास्थाय निजेन कर्मणा ।
दुरवापमहो गृहारिभिः
विमलं ब्रह्मपदं प्रतस्थिरे ॥ ४३ ॥

सुखदुःखसहिष्णुता तथा
तरुमूलेषु भुवस्तले स्थितः ।
विरसक्षितिजातभोजनं
सततं ते वपुषोऽस्ति नोचितम् ॥ ४४ ॥

मृदुतालसिते सितच्छदे
शुचिपर्यङ्क इहातिसौख्यदे ।
व्यजनेन य एष निद्रितः
स कथं सुप्तिमवाप्स्यसि द्रुमे ॥ ४५ ॥

निवसन्ति वने भयावहे
परितः श्वापदहिंस्रजन्तवः ।
गणयन्ति न धार्मिकं नरं
यत एते किल मांसभोजिनः ॥ ४६ ॥

विपिनाद् विपिनेष्वटाट्यया
भविता क्लेशशतं दिवानिशम् ।
चरणौ तव किन्तु कण्टकै-
र्भृशमाकीर्णपथेषु यास्यतः ॥ ४७ ॥

निजवेश्मलसच्छिवालये
विविधेऽन्यत्र सुपर्वमन्दिरे ।
निनदद् - बहुघर्घरादिक-
ध्वनिभिर्माङ्गलिकैश्च शोभनैः ॥ ४८ ॥

प्रतिवासरमेव निद्रया
रहितोऽभूस्त्वमतः परं बत ।
तव घोरतरे वनान्तरे
भविता जागरणं शिवारुतैः ॥ ४९ ॥

ऋषयः पितरश्च देवता
अपरे चातिथयो द्विजादयः ।
स्युरहो विमुखा निराशयाः
किमतो दुःखतरं भविष्यति ॥ ५० ॥

निजशून्यमहो निरन्तरं
निलयेऽस्मिञ्छयनीयमुत्तमम् ।
सुविलोक्य तपस्विनी न ते
दयिता स्वापमवाप्स्यति ध्रुवम् ॥ ५१ ॥

मम चैकपरावलम्बन-
स्तव तातः स्वरियाय हा तदा ।
मुखपङ्कजदर्शनेन ते
निजमात्मानमहं ह्यरक्षिषम् ॥ ५२ ॥

तनये तनयौ वधूरियं
विलपिष्यन्ति यदा भवत्कृते ।
कथयस्व तदा कमन्यकं
शरणं यामि तदीयशान्तये ॥ ५३ ॥

तव चेज्जननी जरातुरा
विधवा वेश्मरताऽतिदुःखिता ।
मृतिमेष्यति हन्त कोऽपरो
नरकात् पुत्र ! समुद्धरिष्यति ॥ ५४ ॥

असुभिः प्रिय पुत्र ईदृशीं
त्वमहो निर्दयतां न याहि भोः ।
इति वाचमुदीर्य विह्वला
जननी नैजमनस्यखिद्यत ॥ ५५ ॥

मुञ्चन्त्यात्म प्रकृतिसुलभां नेत्रजां वारिधाराम्,
अञ्चद्रोमप्रसरसरणिं धारयन्ती स्वगात्रे ।
कण्ठाश्लेपं प्रियसुतममुं गाढमालिङ्ग्य माता,
निर्वाग् भूत्वा प्रणयविधुरा हन्त रोरुद्यते स्म ॥ ५६ ॥

इति श्रीकविवर्य-विन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिविरचिते
महर्षि-श्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये
षष्ठः सर्गः ॥

*****

॥ अथ सप्तमः सर्गः ॥

ज्ञानप्रपन्नमनुजस्तनुजो जनन्या
वाचं निशम्य विविधार्थयुतां प्रयुक्ताम् ।
आश्चर्यसागरनिमग्नमना मनाक् स
यज्ञेश्वरः किल सविस्मयमाचचक्षे ॥ १ ॥

मातः ! समाश्वसिहि नैव कुरुष्व शोकं
स्तोकं विचारय जहीहि समस्तचिन्ताम् ।
आनन्दगौरवमये समये विषण्णा,
त्वं व्यर्थमेव हृदि शोकमये विधत्से ॥ २ ॥

त्वं सर्वशास्त्रविदुषी जगति प्रसिद्धा
ज्ञानार्जन – प्रखरसंशित – बोधवृद्धा ।
कर्तव्यकर्मसकलं विदितं तवास्ते
सा ते कथा मम परीक्षणमात्रहेतुः ॥ ३ ॥

या श्वस्तनीय-सुखसंविदनेकरूपा
सा चाद्य संस्मरणमात्रफलत्वमाप्ता ।
एतद् विचिन्त्य सुविवेकवता नरेण
हेयं सुखं जगति तद् यदनित्यमस्ति ॥ ४ ॥

एकाश्रमादपरमाश्रममभ्युपेयाद्
इत्थं समादिशति मानवधर्मशास्त्रम् ।
तत्र श्रुतावपि समस्तसदागमेषु
संन्यासिनामसकृदाश्रम उक्त आस्ते ॥ ५ ॥

शीतोष्णतादिसुखदुःखनिदानभूतः
सम्बन्ध इन्द्रियततेर्विषयैश्च सार्धम् ।
आयाति याति च ततः क्षणभङ्गुरोऽसौ
तत्रारतिर्बुधजनैर्नहि संविधेया ॥ ६ ॥

एकान्तचित्तविलयो विमले परेशे
तद्भासितस्य जगतः परिचिन्तनं च ।
आगामि-जन्मशतसञ्चितकर्मनाशो
ब्रह्मात्मना स्थितिरिति स्वगृहे न सिद्ध्येत् ॥ ७ ॥

मार्गौ प्रवृत्ति-विनिवृत्तपरौ प्रशस्तौ
आद्यः प्रवृत्तिपरकः स्वगृहे स्थितानाम् ।
संन्यासिनां च विहितो विनिवृत्तरूपो
निःश्रेयसाधिगतिरस्त्यपरेण यातात् ॥ ८ ॥

ज्ञानेन नापि तपसा न च दानतो वा
भक्त्याऽर्चया क्रतुभुजां च न चेज्यया वा ।
नान्यैश्च कर्मनिवहैर्भुवने मनुष्य-
स्त्यागेन शान्तिरधिगच्छति केवलेन ॥ ९ ॥

नानास्ति नैव भुवि किञ्चिदिति प्रबोधो
ब्रह्मैव सर्वमिति शश्वदभेदबुद्धिः ।
वाक्येन नैव हि, निजाचरणेन चापि
कालत्रयेऽपि न भवेदिह गेहवासे ॥ १० ॥

एषोऽपरोऽस्ति च जनो निज एषकोऽस्ति
सैषा प्रमा तु लघुचित्तनरे ह्युदेति ।
संन्यासिनां तु सदुदारधियां मतौ तु
जीवो न कश्चिदपि विद्यत आत्मभिन्नः ॥ ११ ॥

येऽविद्यया प्रबलया परिमुग्धचित्ता
वित्तानुरक्त – निजपुत्र – कलत्रमत्ताः ।
सक्ता मुधेन्द्रियसुखेषु विनश्वरेषु
रक्तास्तथा न सुखिता हि यथा विरक्ताः ॥ १२ ॥

यावद्धनार्जनविधौ परमाऽस्ति शक्ति-
स्तावद्धि तिष्ठति जने परिवारभक्तिः ।
जाते जराभिभवजर्जरितस्य देहे
वार्ता न तस्य परिपृच्छति कोऽपि गेहे ॥ १३ ॥

कान्ता न काचिदिह हन्त न कोऽपि पुत्रः
संसार एष विदितो नितरां विचित्रः ।
योऽहर्निशं कलयते सकलं ह्यसारं
शं शाश्वतं भजति वै भुवि निर्विकारम् ॥ १४ ॥

यो देशवासि-जनतागत-दुःखदुःखी
यश्चेष्टते सकलसौख्यविधौ सदैव ।
तस्यैव जीवनमहो सफलं पृथिव्यां
भुक्त्वाऽन्नपिण्डमिह जीवति कुक्कुरोऽपि ॥ १५ ॥

छायां ददाति च य आतपपीडितेभ्य-
स्तीव्रातपेषु परितिष्ठति यः स्वयं हि ।
यः सर्वदा फलति चापि परार्थमेव
धन्यः स एव हि जडोऽपि च साधुवृक्षः ॥ १६ ॥

सर्वोऽपि जीवनिवहो निज एव चेत्थं
कौटुम्बिक–प्रथित–विश्वजनीनभावः ।
यावन्न चात्महृदये समुदेति तावन्
मोक्षो मतः शशशिरःस्थ-विषाणकल्पः ॥ १७ ॥

अम्भःस्थबिन्दु-चल-मानवजीवनस्य
　　साफल्यमस्ति न निजालय-संनिवासे ।
तस्माद्धितं निलयहानपुरस्सरं हि
　　संन्याससेवनमिह प्रवदन्ति सन्तः ॥ १८ ॥

कामो नितान्तमवितृप्ततया करालः
　　शान्तिं न याति बहुभिर्विषयोपभोगैः ।
कामार्दितेन सततं परिभुज्यमानः
　　संवर्धते भुवि यथा हविषा हविर्भुक् ॥ १९ ॥

कण्डूत्यशान्तिजनकामयवत् स कामः
　　काण्डूयनेन न कदापि शमं प्रयाति ।
सोढा तदीयखरखर्जनरंहसां य-
　　स्तस्यैव शाम्यतितरां हि विनैव यत्नात् ॥ २० ॥

दुर्धर्षतामुपगतः किल रक्तबीज-
　　नामाऽसुरो निगदितः सुमहोग्रतेजाः ।
दुर्गाभिधानपरमाद्दतसप्तशत्यां सोऽयं
　　प्रसिद्धविभवः किल काम एव ॥ २१ ॥

यस्यैकबिन्दुरपि संन्यपतद् धरित्र्यां
　　तेनैव कोटिरिह तद्बलवीर्यवन्तः ।
दैत्याः प्रचण्डवपुषः समुदेयिवांसो
　　व्याप्तं च यैस्त्रिभुवनं स हि काम एव ॥ २२ ॥

तस्मादनन्तविभवोऽमितशक्तियुक्तः
　　कामः सबीज इह नाशयितव्य एव ।
तद्धानहेतुरपि निर्गुणचिन्तनं हि
　　तत्सम्भवं निलयबासरतस्य नास्ति ॥ २३ ॥

धन्यास्त एव पुरुषा भुवि जीवनं ये
देशोपकार-करणाय परित्यजन्ति ।
अस्मिञ्जगत्यनुपलं परिवर्तमाने
के वा न यान्ति विलयं न समुद्भवन्ति ॥ २४ ॥

धावन्त्यनेकसरितः पयसां प्रवाहै-
र्गावः पयांसि ददते च परार्थमेव ।
चर्मत्वगादि ददतः शतशोऽत्र जीवाः
कुर्वन्त्यहो जडधियोऽपि परोपकारम् ॥ २५ ॥

आर्याख्य-जाति-शुभशाश्वतधर्म-देश-
शुष्यन्महीरुह - नितान्त - विशीर्णमूले ।
नानाविधाहृत-सुधार-सुधारसानाम्
आवश्यकं हि परिषेचनमस्त्यनल्पम् ॥ २६ ॥

यो नाऽत्र जन्मभुवनं प्रतिभा-रतं च
स्वं भारतं सुविदधीत शुभा-रतं च ।
श्रेयान् स भारतसखस्य सभा-रतस्य
सत्यं भविष्यति भविष्यति भारतस्य ॥ २७ ॥

पुत्राः कलत्रमितरेऽपि समस्तलोका
मित्राणि बान्धवगणा अपि भृत्यवर्गाः ।
त्यक्ष्यन्ति मां हि विकलेन्द्रियमन्तकाले
किं नाहमेव सकलानधुनैव जह्याम् ॥ २८ ॥

प्राग् यो विधिर्हि विषवत् प्रतिभासमानः
पश्चाच्च योऽस्ति परिणामसुखैकहेतुः ।
सेव्यः स एव मनसेति विचारयेद् यः
स ब्रह्मवित्पुरुष-सत्प्रतिभा-समानः ॥ २९ ॥

मातङ्ग-मत्स्यक-पतङ्ग-कुरङ्ग-भृङ्गाः
पञ्चापि पञ्चवशगा यदि चेद् म्रियन्ते ।
एकः प्रमत्तपुरुषो न कथं म्रियेत
पञ्चेन्द्रियैश्चरति यो विषयांश्च पञ्च ॥ ३० ॥

तानीन्द्रियाणि वशगानि विधाय पञ्च
पञ्चस्वमीषु विषयेषु विरक्तचेताः ।
यो वै जहाति मनसाऽपि समस्तकामान्
तस्यैव सिद्धिरखिलास्ति सदा करस्था ॥ ३१ ॥

संन्यासयोगरहितस्य कदापि पुंसो
ज्ञाने स्थितिर्न समुदेष्यति नैष्ठिकेऽस्मिन् ।
अन्तःप्ररूढ-परिसर्पदनन्तकामा-
ऽऽसक्तेरपास्तिरपि नूनमसम्भवैव ॥ ३२ ॥

माता मताऽत्र भुवने गिरिराजपुत्री
तातो मतः सकलहृद्गत-विश्वनाथः ।
ब्रह्माण्डमध्यनिलया निखिलाश्च लोका-
स्तद्भक्तिभावितहृदः सुहृदो मता मे ॥३३॥

आयासवर्जित-नरेण यदृच्छया यत्
सम्प्राप्यते तदमृतं कथितं मुनीन्द्रैः ।
संन्यासिनामिह सदैव हि तोषभाजां
यादृक् सुखं गृहरतस्य तथा न चास्ते ॥ ३४ ॥

भूशाद्वलानि सुखदानि च यस्य शय्या
स्वीयौ करौ च शिरसः सुलभोपधानम् ।
दिग्दार-चामरमरुत्-परिवीज्यमानः
त्यक्तस्पृहः स्वपिति भिक्षुरतीत्य भूपम् ॥ ३५ ॥

आनन्दमूलगुणपल्लवतत्त्वशाखं
वेदान्तपुष्पफल-मोक्षरसादिपूर्णम् ।
मातर्विहाय हरिकल्पतरुं महान्तं
संसारशुष्कविटपं कथमाश्रयेयम् ॥ ३६ ॥

अस्मिन् भयावहसरस्वति पारशून्ये
संसारनामनि निकाममुपप्लुतस्य ।
रागादिभिर्जलचरैस्तमसाऽऽवृतस्य
नौकेव मेऽस्तु शरणं परमात्मचिन्ता ॥ ३७ ॥

स्थाने निवासनिरतोऽपि च यत्र कुत्र
स्थास्यामि मृत्युसमये तव संनिधौ हि ।
मातस्त्वदीयचरणाम्बुजयोर्निपत्य
संप्रार्थयामि भवतीं मम देह्यनुज्ञाम् ॥ ३८ ॥

आकर्ण्य पुत्रमुखनिर्गतवाचमेनां
माता प्रसन्नवदना तमुवाच पुत्रम् ।
हे पुत्र ! तावकपथे कुशलं प्रभूयात्
काले स्वकीयजननी परिचिन्तनीया ॥ ३९ ॥

निक्षिप्य सौम्यसुतयोश्च कलत्रभारं
सर्वैश्च तैर्गृहजनैरनुमन्यमानः ।
संन्याससंग्रहणकामनया मनस्वी
तूर्णं निरस्य निलयं स इयेष गन्तुम् ॥ ४० ॥

निजलघुजनसङ्घैर्नम्यमानस्तदानीं
सकलगुरुजनानामाशिषः साधु गृह्णन् ।
सविनयसुतदारैश्चापि नीराज्यमानः
प्रतिनतकुलदेवो वेश्मतो निर्जगाम ॥ ४१ ॥

इति श्री कविवर्य-विन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिविरचिते महर्षि-
श्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये सप्तमः सर्गः ॥

———

॥ अथ अष्टमः सर्गः ॥

उदासिता यज्ञपतिः स्वकर्मतो
विहाय बन्धूनखिलान् गृहस्थितान् ।
अटाट्यमानोऽखिलदिक्षु सद्गुरो-
र्गवेषणे संववृते विरक्तधीः ॥ १ ॥

स्वयं महाज्ञानवतोऽस्य किं गुरोः
प्रयोजनं चेति न वाच्यमीदृशम् ।
य एष वर्णाश्रमधर्मरक्षिता
कथं स वै धर्मविरुद्धमाचरेत् ॥ २ ॥

व्रजन्ति तेनैव पथा समे जनाः
प्रयान्ति येन प्रथमे विपश्चिताम् ।
विचिन्त्य चैतत्सुविचक्षणा नराः
समाद्रियन्ते सरणिं श्रुतीरिताम् ॥ ३ ॥

चिदात्मनः सर्वजगत्पतेरपि
भवन्ति साक्षादवतारधारिणः ।
श्रितं न तैरध्ययनार्थमुद्यतै-
र्वशिष्ठ-सान्दीपनिकादि-सत्पदम् ॥ ४ ॥

अनन्त-विज्ञान-पयोधिरूपिण-
स्त्रिनेत्र-पञ्चास्य-पिनाकधारिणः ।
शिवादभिन्नोऽपि स शङ्करः प्रभु-
र्न गौड-गोविन्दपदं किमाश्रितः ॥ ५ ॥

गृहस्थितस्यास्य समासविन्नुतो
बहुश्रुतो यो गृहधर्मयाजकः ।
तदन्तिकेऽसावुपगम्य सादरं
न्यवेदयत् स्वं निखिलं मनीषितम् ॥ ६ ॥

निशम्य सर्वाभिमतं तदीरितं
जगाद विज्ञः शृणु वत्स मे वचः ।
कुले त्वदीये तव पूर्वजा अपि
त्वदादृतेनैव पथा ह्ययासिषुः ॥ ७ ॥

सनातने वैदिकधर्मसत्पथे
यियासिषोर्भाग्यवतो विपश्चितः ।
ऋते गुरुं मोक्षपथप्रदर्शकं
भवत्यपूर्णं भुवि तस्य जीवनम् ॥ ८ ॥

य एकमप्यक्षरमर्पयेद् गुरु-
र्नरस्य कल्याणमभीप्सुरात्मनः ।
न तद्धनं वै भुवनेऽत्र दृश्यते
समर्प्य यत् स त्वनृणी भवेत् किल ॥ ९ ॥

सदागमेषु द्विविधो गुरुर्मतो
जितेन्द्रियौ शिक्षक-दीक्षकाविति ।
निजौ तु मातापितरौ च शिक्षकाः
क्रमेण शिक्षागुरवः प्रकीर्तिताः ॥ १० ॥

चतुर्षु भिन्नेषु तदाश्रमेषु यो
चतुर्मनूनामुपदेशदायिनः ।
चतुर्विधाः स्वाश्रमसिद्धिहेतवो
भवन्ति दीक्षागुरवः पृथक् पृथक् ॥ ११ ॥

उपानयन् यस्त्रिपदोपदेशकः
श्रुतिं शिशिक्षे स हि वर्णिनां गुरुः ।
गृहाश्रमेष्वागम-मन्त्रदीक्षणं
करोति योऽसौ गृहमेधिनां मतः ॥ १२ ॥

महात्मनां विद्वदरण्यवासिनां
गुरुर्मतोऽन्यः स विपश्चिदग्रणीः ।
तथैव संन्यासविधौ च सत्तमः
सदा प्रसन्नात्मगुरुर्ह्यपेक्ष्यते ॥ १३ ॥

न तद् विधेयं भुवनेऽत्र लक्ष्यत
ऋते गुरोर्यत् परिपूर्णतां व्रजेत् ।
अतो गुरोः सन्तरणं भवाम्बुधे-
र्नरो वृणीते शरणं शरण्यदम् ॥ १४ ॥

विभिन्नरूपाः श्रुतिसम्मताश्च ये
लसन्ति मार्गाः किल पञ्च शाश्वताः ।
सदा भवादात्मविमुक्तिवाञ्छया
गुरुं दयालुं शरणं समाश्रिताः ॥ १५ ॥

अनेकशः सौगत-जैनमार्गगा
मुहम्मद-ख्रीष्ट-मतानुयायिनः ।
यहूदि-पारस्य-कबीर-नानकाः
समामनन्तीह गुरोः प्रयोजनम् ॥ १६ ॥

श्रुतिः स्मृतिश्चाप्युपवेददर्शनं
पुराण-तन्त्रादिक-शास्त्रसन्ततिः ।
वदन्ति सर्वाणि सडिण्डिमध्वनि
गुरुं विना मोक्षपदं न लभ्यते ॥ १७ ॥

खपञ्जरस्थाः क्षितिखेटतारकाः
परिभ्रमन्तीह यदीयशक्तितः ।
स्वकीयकक्षासु समन्ततश्चिरम्
अनन्तशक्तिः स जगद्गुरुः स्मृतः ॥ १८ ॥

स्वरूपतस्तं परिचेतुमीहया
यदैव जीवो निजसर्वकामनाः ।
परित्यजन् व्याकुलतां प्रपद्यते
तदैव तेनाशु विचिन्त्यते गुरुः ॥ १९ ॥

स वै गुरुः शिष्यदयापरो भवन्
स्तुतासु यः सप्तसु बोधभूमिषु ।
नरं समाकृष्य निजैः पराक्रमैः
क्रमेण तद्ब्रह्म नयत्यसंशयम् ॥ २० ॥

मुमुक्षुसम्बद्धहितार्थसाधकः
क्रियासु दक्षः किल यौगिकीषु यः ।
त्रिभाव-भाषात्रय-मर्मबोधको
गुरुर्बहुज्ञः श्रुतिसम्मतो भवेत् ॥ २१ ॥

उपासनातात्त्विकबोधवित्तमः
समानदर्शी शुभदर्शनश्च यः ।
त्रितापहा निर्मलशुद्धमानसो
गुरुर्मतो जीवनमुक्ततां गतः ॥ २२ ॥

भयावहे भीमतमोभिरावृते
पथि भ्रमन्तं भवभीतिसङ्कुलम् ।
नरं स्वकीयैरुपदेशदीपकै-
र्नयेत् परं धाम स सद्गुरुः स्मृतः ॥ २३ ॥

गुकारशब्दोऽन्धकृतेऽस्तु सूचको
रुकार आस्ते किल तन्निरोधकः ।
समूलमज्ञानतमो - विनाशको
गुरुश्च शब्दोऽखिलवेदविश्रुतः ॥ २४ ॥

गुरेष मायादिगुणावबोधको
रुरद्वयं ब्रह्म निरस्तकल्मषम् ।
गुरुर्मतो भ्रान्तिविमोचकः परः
स सेवनीयः सततं शुभैषिभिः ॥ २५ ॥

गकार उक्तोऽखिलसिद्धिदायकः
स चास्ति रेफोऽमितपापदाहकः ।
शिवो ह्युकारः कथितः सुधीश्वरै-
र्गुरुः समेतस्तिसृभिश्च शक्तिभिः ॥ २६ ॥

गुरौ स्थितोऽसौ परमेश्वरो भृशं
स्वशिष्यकल्याण-विधान-तत्परः ।
अतो नरः स्वे महिते हिते रतो
मनुष्यबुद्ध्या न गुरुं विलोकयेत् ॥ २७ ॥

नराः प्रकृत्यैव हि बुद्धिजीविनो
भवन्ति नाऽन्ये प्रकृतेर्वशङ्गताः ।
अतस्तु तैरात्महितानुबन्धिभिः
स्वयं हि शास्त्रोक्तगुरुर्विमृग्यते ॥ २८ ॥

भुवीह मातापितरौ जनुःप्रदौ
प्रपूजनीयौ मनुजेन सर्वथा ।
अपार-संसार-समस्ततापतो
विमोचयेत्तस्य तुला न केनचित् ॥ २९ ॥

मिलन्त्यनेके गुरवो भुवस्तले
स्वशिष्य-वित्तानि हरन्ति केवलम् ।
सुदुर्लभास्ते गुरवो भवन्ति ये
स्वशिष्य-सन्तापहराः कृपालवः ॥ ३० ॥

प्रकोपमाप्ते परमेश्वरेऽप्यहो
स्वशिष्यमारक्षति पापिनं गुरुः ।
गुरौ तु रुष्टे जगतीतलेऽखिले
न कोऽपि तद्रक्षणकर्मणि प्रभुः ॥ ३१ ॥

दयामयो यः प्रकृतेः परः पुमान्
गुरुस्वरूपं भुवने बिभर्त्यसौ ।
परस्परं यो गुरुदेव - देवयो-
रभेदबुद्धिर्न भवाय कल्पते ॥ ३२ ॥

गुरौ स्वकीये नरबुद्धिरस्ति यो
मनौ तु यो वर्णमतिर्भवेन्नरः ।
समर्च्यदेवप्रतिमासु चाश्मधी-
र्व्रजेदसौ निन्दित - पापयोनिषु ॥ ३३ ॥

यथार्थ-जिज्ञासुमना भवन् नरो
विधाय चात्मानमिहोपयोगिनम् ।
अधीरमन्विष्यति चेत्तमीश्वरं
गुरुस्वरूपं परिलप्स्यते ध्रुवम् ॥ ३४ ॥

प्रवृद्ध - वैराग्ययुतैस्तु मानवैः
प्रकृष्ट - माध्यात्मिक - मार्गमास्थितैः ।
निजाधिकाराननुसृत्य मार्गणे
मनोऽनुकूलो गुरुराप्यतेऽञ्जसा ॥ ३५ ॥

विना च दीक्षा-ग्रहणाद् विनादराद्
गुरोस्तथाऽऽज्ञा - परिपालनाद् विना ।
तदिङ्गितात् साधनचिन्तनाद् विना
भवेन्न मुक्तिस्त्विह जन्मकोटिभिः ॥ ३६ ॥

कुलस्य नैजस्य स याजकस्य तत्
पुरोहितस्य श्रुतितत्त्वदर्शिनः ।
वचः समाकर्ण्य गभीरमर्थवत्
प्रकाममन्तः प्रससाद शास्त्रवित् ॥ ३७ ॥

तदङ्घ्रिकञ्जं प्रणतः पुरोधसः
शुभाशिषां राशिभिरर्चितो भवन् ।
यथोपदिष्टं गुरुमात्मशान्तये
विचेतुकामः स इतस्ततोऽभ्रमत् ॥ ३८ ॥

गुरुं विमृग्यन् भुवि पर्यटन्नसौ
सुकोमलाङ्गो विकलेन्द्रियोऽभवत् ।
दयालुना केनचिदिङ्गितो भवन्
द्रुतं हरद्वारमुपाजगाम सः ॥ ३९ ॥

तदाश्रमे मेरठ - पत्तनस्थिते
तपस्विनो वेदविदां यशस्विनः ।
अनेकशो योगचमत्कृताशयाः
समागमंस्तेष्वपरो महामतिः ॥ ४० ॥

स 'केशवानन्द' - पदेन विश्रुतः
स्तुतः परिव्राजक - मण्डलेश्वरः ।
परात्मवित् तान्त्रिक-साधकोत्तमो
बभूव 'यज्ञेश्वर' - पूज्यतां गतः ॥ ४१ ॥

व्रजे च विन्ध्ये भुवनेश्वरे तथा
शुचौ हरद्वारि च नर्मदातटे ।
पवित्र - तीर्थेष्वपरेषु चोत्तमा
विनिर्मितास्तेन महात्मनाऽऽश्रमाः ॥ ४२ ॥

स्थितो हरद्वारविनिर्मिताश्रमे
तदा समासीत् स मनीषिपुङ्गवः ।
स्वशिष्यवृन्दैः परितः समावृतो
रराज शम्भुः परमैरिवर्षिभिः ॥ ४३ ॥

तमेव विद्वद्वरचक्रचुम्बिता-
ऽङ्घ्रिपद्मकं साधुशिरोमणिं प्रभुम् ।
गुरुं वरेण्यं मनसा विनिश्चितं
विधाय तत्पादसरोरुहं गतः ॥ ४४ ॥

प्रभो दयालो शरणागतं निजं
जनं प्रपाहीति वदन् प्रहृष्टधीः ।
ननाम भूमौ विलुठन् स सादरं
शुभां स्तुतिं वाचमुवाच तस्य च ॥ ४५ ॥

विपद्घनध्वान्तसहस्रभानवः
समीहितार्थार्पण - कामधेनवः ।
अपारसंसार - समुद्रसेतवः
पुनन्तु मां सद्गुरुपादरेणवः ॥ ४६ ॥

प्रभुर्विरञ्चिः स हि विष्टरश्रवा
तथा स वै भूतपतिर्महेश्वरः ।
सुराः समे यस्य च विग्रहे स्थिता-
श्चिराय तस्मै गुरवे नमो नमः ॥ ४७ ॥

अखण्डितं मण्डलधाम बिभ्रत-
श्चराचरं व्याप्नुवतो निरन्तम् ।
प्रदर्श्यते येन दयालुना पदं
परात्मनस्तत्पदमाश्रयामहे ॥ ४८ ॥

अविद्यया भ्रान्तपथस्य देहिन-
स्तथान्धतामिस्र - विमुग्धचेतसः ।
प्रकाश्यते येन सुसंविदञ्जनै-
र्विपन्नचक्षुस्तमिहाश्रयामहे ॥ ४९ ॥

अनेक-जन्मार्जित-कर्मबन्धन-
प्रदाहिने शाश्वतबोधदायिने ।
दुरन्तदीव्यद्-भवसिन्धुशोषिणे
नमो नमस्तेऽतिदयार्द्रचेतसे ॥ ५० ॥

यदङ्घ्रिफुल्लत्सरसीरुहद्वय-
प्रपन्नचित्ता भुवनेऽत्र मानवाः ।
समस्तदुष्कृत्य - विशुद्धतां गताः
प्रयान्ति तद् ब्रह्म तमाश्रयामहे ॥ ५१ ॥

तपांसि दानानि जपा व्रतानि च
क्रतोः सहस्राणि शतानि सत्कृतेः ।
समस्ततीर्थान्यपि यत्कृपां विना
फलन्ति नैवेह गुरुं तमानुमः ॥ ५२ ॥

निवेदिते तेन मनोरथे निजे
स केशवानन्दमुनिः सविस्मयम् ।
जगाद तं प्राञ्जलिमानतं–'तव
क्रिया ममाश्चर्यकरी' प्रतीयते ॥ ५३ ॥

सरः किमत्राश्रयते पयोनिधि-
र्महागजः किं चुलुकेन तृप्यति ।
सहस्ररश्मिर्भुवि दीपकं तथा
शशी च खद्योतविभामपेक्षते ॥ ५४ ॥

त्रिकालवेत्ता किल दत्तनामको
महर्षिरात्रेय इहात्र विश्रुतः ।
अभूद् गुरूणामपि यो गुरुः प्रभु-
र्न तेन भिन्नोऽस्ति भवाननन्तधीः ॥ ५५ ॥

तथाऽप्यहं तद्भवतः समीहितं
विधातुमिच्छामि भवत्प्रणोदितः ।
फलं न किञ्चिन्मम दीक्षयाऽस्ति ते
शुभा कृषिर्वप्तृगुणं न चेहते ॥ ५६ ॥

ततोऽनुकूले समये समागते
समैषणात्यागमथादिशन् गुरुः ।
स तं महाब्राह्मिकमन्त्रतो युतं
चकार विद्युत्प्रभयेव वल्वकम् ॥ ५७ ॥

चतुर्दशस्वेषु भुवो वनेषु वा
अधस्तथोर्ध्वं विलसत्सु यत्सुखम् ।
श्रुतं समस्तं ह्यनुभूतमद्भुतं
हृदा स सङ्कल्पपुरस्सरं जहौ ॥ ५८ ॥

ज्ञानानन्दे परमसुखदे सर्वदा संरतत्वाज्
'ज्ञानानन्दं' श्रुति-सुमहितं नामधेयं दधानः ।
कान्तं वासो निजभुवनजं गैरिकं साधु बिभ्रद्
दृष्टो नान्यो मनुतनुजनुस्तत्समानः परिव्राट् ॥ ५९ ॥

इति श्रीकविवर्यविन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिविरचिते
श्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये अष्टमः सर्गः ॥



॥ अथ नवमः सर्गः ॥

अनुहरन्नतसी-कुसुमच्छविं
सुदृढ - लम्ब - विशालवपुर्गुरुः ।
शुचिपिशङ्ग-जटाततिभिर्युतः
स तडिदम्बुधरोपम उद्बभौ ॥ १ ॥

प्रथितशिष्यइतोऽवयवैः शुभै-
र्विधृतकृष्णजटः सितविग्रहः ।
प्रसभचोरित-दृक् शुशुभे यथा
हिमगिरेः शकलो जलदैर्वृतः ॥ २ ॥

सहितयोर्व्रजतोर्गुरुशिष्ययोः
पथि नृणामवलोकयतां भृशम् ।
क्षितिजयारहितोऽनुजसंयुतः
स्मृतिपथं गतवान् रघुनन्दनः ॥ ३ ॥

विचरतः स्म यदोत्तर-दिक्पथे
गुरुरथापि च शिष्य उभावपि ।
जनतया नतया हृदि भावितौ
नर - नरेन्द्रमुनी सहचारिणौ ॥ ४ ॥

अलकनन्दनिका त्रिदशपगा
भुवनविश्रुतमस्ति नदीद्वयम् ।
उभयमध्यगतः पुरि मायिके
विलसति स्म गुरोः शुचिराश्रमः ॥ ५ ॥

अभवदुत्सुकताऽऽश्रमनिर्मिता
वतिपवित्रतमेषु च धामसु ।
अपि बभूव तथैव गुरोः प्रियं
विविध-साधव-संहतिभोजनम् ॥ ६ ॥

अभिमतं च विरागवतां सतां
समुपलभ्य हि भोजननिर्णयम् ।
सुमित-'केशव'-सेवकमण्डली
प्रविदधेऽमित-काञ्चनवर्षणम् ॥ ७ ॥

उपरि नव्यसमागतयोगिनो
ह्यतनुयोगबलैर्ज्वलदाशयाः ।
सहचराः कतिचित् कुटिलाः खला
गुरुमहोत्सवभारमथार्पयन् ॥ ८ ॥

अनुभवादमितादपि सर्वतो-
मुखविसारि - सुबुद्धि-बलादसौ ।
कठिनकार्यनिदेशमपि प्रभु-
र्मह-समस्त-विधानमसाधयत् ॥ ९ ॥

गुरुरभिज्ञतया प्रशशंस तं
कुमतिभिर्न शुभा सह सङ्गतिः ।
इति विमृश्य च साधनकाम्यया
ह्यभिललाष तमाश्रममुज्झितुम् ॥ १० ॥

सुविनयैर्गुरुणाऽनुमतस्तदा
निकटवर्ति समागतवानसौ ।
स्मरहरस्य हरस्य पुरे स्थितं
रुचिरबाष्पकयान-निकेतनम् ॥ ११ ॥

फलकमेकमुपाश्रित-मागतं
तदधिपः प्रणनाम समीपगः ।
'रुडकि'-धूम्रगतस्थलनेत्रिकां
स चिटिकां परिगृह्य तमार्पयत् ॥ १२ ॥

'रुडकि'-माश्रितवान् वसतिं शुभां
निकटवर्तिनि धार्मिक-मन्दिरे ।
सुखसुषुप्तिमवाप्य जगद्गुरु-
र्निशि निनाय निजं समयं प्रभुः ॥ १३ ॥

उषसि शौचविधान-समुत्सुके
बहिरथापतिते शुभदर्शने ।
जनतयाऽऽगतया च समन्ततो
नयनयुग्ममममन्यत सार्थकम् ॥ १४ ॥

नगरवासिजनाश्च निजालया
स्तमभिपूज्य सुसादरमानयन् ।
कतिदिनान्यवसत् प्रभुराग्रहान्
मुदमवाप सभक्ति-समर्चितः ॥ १५ ॥

सुनगरेऽत्र 'निहाल'-पुरोगमा
अगणिता धनिनोऽपि च मानिनः ।
प्रणत-दारयुताः शरणं गताः
समगुरेत्य महाप्रभुशिष्यताम् ॥ १६ ॥

द्रविणमेव न वै गुरुपूजने
किमपि सद्विनयादपि चाददे ।
इति विषादमवापुरनेकधा
विनयसंभृतशिष्यजना हृदि ॥ १७ ॥

विकलशिष्यगणैः परमाग्रहैः
प्रणतिभिर्बहुभिर्विनिवेदितः ।
मम गुरोः शुभमीरयताऽऽश्रमं
यदपि वोऽभिमतं द्रविणं भवेत् ॥ १८ ॥

इति समादिशति स्वमुखाद् गुरा-
वनुगता अतिहर्षितमानसाः ।
गुरुगृहे त्वरितं हि विचित्य ते
सुविपुलं धनराशिमथैरयन् ॥ १९ ॥

नहि सुशोभनमेकपुरे मम
निवसनं बहुकालमिति प्रभुः ।
सुपरिचिन्त्य निजे हृदयेऽमले
सपदि तत्स्थलहान-परोऽभवत् ॥ २० ॥

स्वपुरतो गमनस्य च वार्तया
विशदबोधवतोऽस्य महामुनेः ।
गुरुवियोग-सुविक्लव-मानसा
परितताप भृशं नरमण्डली ॥ २१ ॥

अपरिहार्य-विनिश्चयसद्गुरुं
समवलोक्य तदाऽनुगता जनाः ।
बहुसमादरतस्तु समुद्यताः
स्वनगरात् प्रतियापयितुं प्रभुम् ॥ २२ ॥

सुखकरीं चिटिकां प्रतिगृह्य या
गमयति द्रुतमर्बुदभूधरम् ।
शकटिकामितवाष्पबलेन तां
प्रणतशिष्यजनैरधिवेशितः ॥ २३ ॥

इह महर्षिगमेऽर्बुदपर्वते
व्यतिययुर्बहवः पथि वासराः ।
तदशनादि-निवास-सुखं सदा
सुविदधेऽनुदिनं जगदम्बया ॥ २४ ॥

बहुविधार्त्तियुतानतिदुःखितान्
पथि नरान् परिलक्ष्य दयापरः ।
सफलतां तदशान्तिविमोचने
वसु विचित्य महर्षिरसौ गतः ॥ २५ ॥

अशनवस्त्रवियोगवतां नृणां
सुखकरं निजशासनमन्तरा ।
जगति सन्ततसौख्यमसंभव-
मिति नतः स परात्परमीश्वरम् ॥ २६ ॥

शिरसि नैजकरद्वयमर्पयन्
प्रणतिपूर्वकमेष जगत्पतेः ।
भरतभूमि-महत्त्व-विबोधकं
स्तववचः समुवाच महामुनिः ॥ २७ ॥

हिमवता मुकुटेन विराजिता
द्विगुणषोडशकोटि-सुतान्विता ।
स्मितपराजित-पूर्णसुधाकरा
जयति भारतवर्ष-वसुन्धरा ॥ २८ ॥

अमृतपङ्कजभास्वरितानना
छविविनिन्दित-नन्दन-कानना ।
अमलकोमल-बिम्बफलाधरा
जयति मे सुफला सुजला धरा ॥ २९ ॥

महितराघव-माधव-मातृता
विहित - वर्गचतुष्टय - दातृका ।
अधिगता मुनिभिश्च यतोऽजनि-
र्जयति मे वरदा भरतावनिः ॥ ३० ॥

प्रणत-मानवबुद्धि-विकाशिनी
प्रबल - राक्षसवंश - विनाशिनी ।
सुमतिदा विशदा भयहारिणी
जयति मा परमामयवारिणी ॥ ३१ ॥

सुखदसुन्दर - शाद्वलशालिनी
सुम-समूह-लसद्-गिरिमालिनी ।
बहुनदाऽऽप्रपदीन-कचाचिता
जयति विश्वजनीन-गुणार्चिता ॥ ३२ ॥

श्रुतिशुचिस्मृतिदर्शनहेतवे
विधुर - वीचि - भवार्णव - सेतवे ।
निखिलवाञ्छित-कामदधेनवे
तव धरित्रि नमोऽङ्घ्रिजरेणवे ॥ ३३ ॥

जनितविष्णुविरञ्चिदिगम्बरा
वितत - शुद्धयशो - लसदम्बरा ।
ऋषि-महर्षिनिपीत-पयोधरा
जयति जन्मधरा सुमनोहरा ॥ ३४ ॥

सुमहनीयमहामहिमान्वितां
विजयिनीं महतीं महितां हिताम् ।
प्रतिपलं कलये हृदि सादरं
विबुधवन्दित - भारतमातरम् ॥ ३५ ॥

सुरसरिद् यमुना च सरस्वती
सुरस-सिन्धुनदी च दृषद्वती ।
अगणिताः सरितोऽपि च नर्मदा
धवयलन्ति पदं तव सर्वदा ॥ ३६ ॥

मलयजः पवनः परिपावनः
सरसिजामृत - शीकर - वाहनः ।
व्यजनमातनुतेऽनिशमर्चिते
वपुषि ते हरिचन्दन-चर्चिते ॥ ३७ ॥

पदपरागमतीव शिवङ्करं
परिचरन्नयि तेऽम्ब निरन्तरम् ।
प्रियजनं पितरं च सहोदरं
परिजहामि भजामि च नो दरम् ॥ ३८ ॥

जननि मन्नयनं भयनाशया
प्रथममुल्लसितं तव भासया ।
मृतिदिनेऽपि तया परिपूरितं
भवतु भारतभूमि-निमीलितम् ॥ ३९ ॥

न वसु नापि यशो न सुखान्यये
परपदं जगदम्ब न कामये ।
चरणमर्चितुमीश्वरि तावकं
जनुरिदं व्यतिगच्छतु मामकम् ॥ ४० ॥

स्तुतिवचोभिरमीभिरयं स्तवन्
स्वजननीं भरतस्य भुवं प्रियाम् ।
अतिशयादर - भक्ति - पुरस्सरं
स्तवमनेक - सुरात्मकमैरयत् ॥ ४१ ॥

अतिविषण्णमनाः　प्रभुरात्मनो
　　जनपदं　निजतन्त्रयितुं　पुनः ।
परमकारुणिकं　जगदीश्वरं
　　हृदि　भजंश्चलितोऽर्बुदपर्वतम् ॥ ४२ ॥

परमया　रमया　समलङ्कृतः
　　सुमहितेन　हितेन　च　संयुतः ।
जनतया　नतया　पथि　पूजितो
　　न　समयं　समयं　च　जहौ　मुनिः ॥ ४३ ॥

गिरिमिमं　स　समेत्य　भयावहं
　　विविध - हिंसक - जन्तुसमाकुलम् ।
मनसि　नैव　मनागपि　विव्यथे
　　भुवि न　भीतिरुदेति　महात्मनाम् ॥ ४४ ॥

इह　हि　निर्जनभूधरकानने
　　यतिवरस्य　वशिष्ठमुनेः　शुभः ।
विलसति　स्म　चिरन्तन　आश्रम-
　　स्तमधिकृत्य　मुदं　स　परां　ययौ ॥ ४५ ॥

मुनिमिमं　परिचिन्त्य　समागतं
　　सुमनसो　वनचारि-वपुर्धराः ।
सुरस-मूलफलैश्च　समन्विता-
　　स्त्वरितमेव　तदन्तिकमाययुः ॥ ४६ ॥

सुरसवन्ति　फलान्यनुवासरं
　　तमिह　चार्पयितुं　प्रतिजज्ञिरे ।
बहुविधामवगीत - सुधारसां
　　विनयवाचमिमं　समुदैरयन् ॥ ४७ ॥

तदिदमीय - निरन्तर - सेवया
　　क्रिमपि कष्टमवाप न योगिराट् ।
विरहितश्च निजाशनचिन्तया
　　व्रततपांसि चचार विधानतः ॥ ४८ ॥

समधिगत्य तदिङ्गितमेकदा
　　प्रमुदितैर्विपिनान्तरवासिभिः ।
सुरसवत्फलदा द्रुमपोतका-
　　स्त्वरितमाश्रमभूमिषु रोपिताः ॥ ४९ ॥

न्याय-प्रणेतुर्मुनि गौतमस्य,
　　वैशेषिकज्ञानवतो महर्षेः ।
पतञ्जले योगरहस्य वेत्तु-
　　र्नामाङ्कितास्तत्र लसन्ति मार्गाः ॥ ५० ॥

विज्ञानिधुर्यस्यच सांख्यकर्तु-
　　र्महामुनेस्तत्कपिलस्य चापि ।
अभिख्यया राजति तत्र पन्था
　　यस्याश्रयान्मोद मुपैति चेतः ॥ ५१ ॥

यागप्रयोगस्य जगत्सु यो भू-
　　दाविष्कृतो लब्धयशा महर्षिः ।
श्री जैमिनिस्तस्य पथि प्रकृष्टं
　　सन्दृश्यतेस्म क्रतु मण्डपं सत् ॥ ५२ ॥

ब्रह्माण्डसंचालक कर्मसङ्घ-
　　स्वरूपमाख्यात मनन्तरूपम् ।
यत्रास्ति तस्य प्रतिपादकस्य
　　सत्कर्म मीमांसन दर्शनस्य ॥ ५३ ॥

आविष्कृतिं यो विदधे मुनीन्द्रः
श्रीमान् भरद्वाज महर्षि - वर्यः ।
तन्नामतश्चापि चकास्ति चैको
विध्वंसको ध्वान्तततेः शुभोऽध्वा ॥ ५४ ॥

दैवी मुपास्तिं विविधस्वरूपां
लसत्प्रभावाञ्च मतान्तरेषु ।
प्रचारितां यो भुवने चकार,
श्रुति प्रसिद्धामपि तान्त्रिकीञ्च ॥ ५५ ॥

स चाङ्गिरा राजति भक्ति भूमि
स्तान्नामतश्चापि सदाश्रमेऽत्र ।
भक्ताग्र - गण्यैः परिदर्शनीयो
विभाति पन्थाः शुभ लक्षणाढ्यः ॥ ५६ ॥

वेदान्त विद्यां श्रुतिसार - भूतां
विज्ञान - विध्वस्त - समस्तदोषाम् ।
पुराण मैतिह्यमनेकशास्त्र
मरीरिचद्भागवतं बुधो यः ॥ ५७ ॥

द्वैपायनस्यापि महामहर्षेः
श्री व्यासदेवस्य च तस्य नाम्ना ।
कर्कन्धु रम्भादि विलासरम्यो
नम्यो लसत्यत्र समृद्धमार्गः ॥ ५८ ॥

श्रीयज्ञवल्क्यस्य च गाधिराजा-
त्मजस्य वल्मीक भवस्य चापि ।
श्रीमानगस्त्यस्य च शोषिताब्धे-
र्विराजते नामभि रध्वसङ्घः ॥ ५९ ॥

देवर्षिवर्यस्य च नारदस्य
वैयासिकेश्चाप्यवधूत - मूर्तेः ।
मुनेर्मनोर्धर्मविदश्च नाम्ना
विराजमाना विलसन्ति मार्गाः ॥ ६० ॥

समस्त लोकादृत धर्ममार्गः
क्वचिच्चसंराजति मोक्षमार्गः ।
वर्णाश्रमादर्शपरः परत्र
पन्था नृणां दृष्टिपथं प्रयाति ॥ ६१ ॥

अभ्यर्णमस्मिन् रुचिरप्रवेश-
द्वारस्य राजत्सुचतुष्पथेऽपि ।
स्तम्भाः सिताश्मा रचिताः प्रशस्ता
उट्टङ्किता येषु चतुःषु चैते ॥ ६२ ॥

सत्यं दया दानमिमे तपश्च
पादास्तु धर्मस्य सनातनस्य ।
यानश्रयन्तोऽभ्युदयश्च मोक्षो
नरा इहत्या हि सदा लभन्ते ॥ ६३ ॥

सन्मण्डलाकार पवित्र वेद्यां
संराजतेऽघौघहरी शमी ताम् ।
शाम्यन्ति पापानि विलोक्य यत्र
प्रवेश मात्रेण नृणां समेषाम् ॥ ६४ ॥

रम्या व्रतत्यो विविधाः द्रुमाश्च
महर्षि मार्गान् परितो लसन्ति ।
यदीय संरोपण कौशलेन
विमुग्धतां गच्छति दर्शकालिः ॥ ६५ ॥

गौल्मास्तथा चम्पक पारिजाताः
सुवर्णदीप्तास्त्वथ राजताभाः ।
मयूरपक्षाः सरला अशोका
रक्ताःसिताश्चात्र विभान्त्यनेके ॥ ६६ ॥

पीतास्तथा पीतरसास्तु दिव्या
सुमाञ्चिता विष्वगनोकहाश्च ।
शाला विशाला बहवो लसन्तु
हरन्ति चेतांसि नृणामजस्रम् ॥ ६७ ॥

सर्वर्त्तुसद्भूतफला रसालाः
राजन्त्यनेके फलराजवृक्षाः ।
अनेकधा ये पनसा फलाढ्या
स्तैः स्वर्गशोभाप्यधरी बभूव ॥ ६८ ॥

निष्यन्दिनीनाममृतस्य सम्यग्-
द्राक्षाततीना मिह सर्वदैव ।
विलोकनाद् राजमनांसि क्वापि
शश्वन्निवासं किल कामयन्ते ॥ ६९ ॥

अनेक वर्णानि सुमान्यमुत्सि-
न्नतीतसंख्यानि च पाटलानि ।
विचित्ररूपाण्यवलोक्य तानि
चित्रीयते दर्शक चित्रवृत्तीः ॥ ७० ॥

निपीय यासां रसमात्मनीनं
महर्षयो जीवनमापु रिद्धम् ।
ताः सोमवल्यो बहुयत्नतोऽद्य
विरोपिता रम्यतमा लसन्ति ॥ ७१ ॥

कदम्बसर्जार्जुन सिन्धुवारैः
शिरीष सप्तच्छद सन्मधूकैः ।
वानीरवत्केतक तालखर्जैं
र्विभ्राजते चित्तहराश्रमोऽयम् ॥ ७२ ॥

वज्रप्रभस्फाटिक शैलखण्डे
व्यरेचि यः शिल्पिभिरिन्द्रनाथैः ।
अर्द्धाङ्गनारी रमणीय मूर्त्तिः
शिवः स जायादरमातनोति ॥ ७३ ॥

या पर्णशाला रचिता महर्षे
र्निवासहेतोः कुशलैर्नृदेवैः ।
द्वारे च तस्याः शुभ पद्यमेतद्
विराजते सत्फलकेऽङ्कितं सत् ॥ ७४ ॥

लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु
धर्मेरताश्चाप्यखिला लसन्तु ।
विप्राश्च गावः श्रुतयश्च सत्यः
मुदान्विताः सन्तु सदैव सन्तः ॥ ७५ ॥

सद्गह्वरं निर्मितमस्ति चैकं
विशुद्धिमत् पंचवटी स्थितं च ।
योगीश्वरस्तत्र सदा द्विसंध्यं
ध्यानं विधत्ते परमस्य पुंसः ॥ ७६ ॥

अथ वनेचर-विग्रहनिर्जरै-
र्विरचितं सुखदाश्रममद्भुतम् ।
अधिवसन् नियमेन यतीश्वरो
बहुविधं स सुसाधनमाचरत् ॥ ७७ ॥

श्रुतिषु मन्त्रहठाख्यलयाभिधे
लसति यः खलु योगविधिस्त्रिधा ।
यतिपतिः स तदङ्गनिषेवणे
प्रववृते विजितेन्द्रियसन्ततिः ॥ ७८ ॥

यदपि मन्त्रहठाह्वययोगयो-
रथ लयस्य च साधनमीरितम् ।
निवसता स्वगृहे कृतमस्ति तत्
पुनरिहाचरितं यतिनाऽमुना ॥ ७९ ॥

शम - दमादिक - साधनसम्पदः
इह परत्र च भोग-विरागिता ।
क्षणिक - शाश्वत - वस्तुविवेचनं
सकलसिद्धिकरी च मुमुक्षुता ॥ ८० ॥

अखिलमेतदमुष्य गृहाश्रमे
समुदियाय विवेकवतो हृदि ।
इह विविक्ततमे विपिनाश्रमे
पुनरदः परिशीलयिताऽभवत् ॥ ८१ ॥

सुपठितं च पुनः परिचिन्तनात्
सुविदधाति बुधो हृदि निष्ठितम् ।
मुनिवरोऽपि तथैव गिरौ वसन्
स हि तदभ्यसने निरतोऽभवत् ॥ ८२ ॥

सगुणविग्रहचिन्तनमाचरन्
हठ - लय - प्रतिपादित - रूपयोः ।
सुविदधद् विलयं निजचेतसः
परमसिद्धि - मुपाश्रयदञ्जसा ॥ ८३ ॥

निखिलयोग - सुसाधन - हेतवे
न समयो बहुरस्य समत्यगात् ।
विगतजन्मनि यत्सुकृतं कृतं
तदति - सत्वरमेव विजृम्भते ॥ ८४ ॥

श्रुतिशिरोऽध्ययनं तु गुरोर्मुखा
च्छ्रुतचरस्य सदा मननं ततः ।
चिरनिदिध्यसनात् पुनरस्य वै
दृढतरः परिबोध इहोदितः ॥ ८५ ॥

त्रितयमेतदपास्य कदापि वै
भवति नैव परात्मविवेकिता ।
इति विमृश्य मुमुक्षुरयं यतिः
प्रथमसाधित - साधनमाचरत् ॥ ८६ ॥

सकलयोगशिरःस्थमिदं मतं
परमनिर्गुण - चेतन - चिन्तनम् ।
तदपि तेन महोग्रसमाधिना
चिरसमीहित - माप्तमशेषतः ॥ ८७ ॥

हृदयबन्धनमन्तरभिद्यत
क्षयमियाय च संशयसन्ततिः ।
त्रिविधकर्म परं विलयं गतं
मनसि संस्फुरितो भगवानभूत् ॥ ८८ ॥

य इह विश्रुतराजसमाख्यया
ह्युपनिषत्सु च योग उदीरितः ।
यतिवरोऽस्य विधातुमनुष्ठितिं
प्रयतते स्म हि तस्य हितस्य सः ॥ ८९ ॥

अष्टौ योगाङ्गानि पातञ्जलानि
वारं वारं सम्यगभ्यस्य नित्यम् ।
सर्वश्रेष्ठे राजयोगप्रयोगे
सिद्धिं प्राप्तुं संरतोऽभूद् यतीन्द्रः ॥ ९० ॥

इति श्रीकविवर्यविन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रि-विरचिते महर्षि श्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये नवमः सर्गः ॥

***

॥ अथ दशमः सर्गः ॥

त्यागो यमश्च नियमोऽपि च मौनमेव
देशश्च काल उत चासनमूलबन्धौ ।
देहस्य साम्यमसुसंयम-दृक्स्थिती च
प्रत्याहृतिर्धृतिरथात्मरतिः समाधिः ॥ १ ॥

सन्तीति पञ्चदशसंस्तुतराजयोग-
स्याङ्गानि योग्यतमसाधकसिद्धिदानि ।
एषामनुष्ठितिमपास्य कदापि कश्चित्
कालत्रयेऽपि भविता न च राजयोगी ॥ २ ॥

हानं प्रपञ्चनिवहस्य चिदात्मदृष्टिः
सर्वत्र भूतनिवहेषु विराजमाना ।
त्यागः स एव हि मतः सुधियां वरेण्यै-
र्येनाशु योगपथमाश्रयते प्रकृष्टम् ॥ ३ ॥

ब्रह्मैव सर्वमिति चिन्तनतत्पराणां
योऽयं जयोऽस्ति हि निजेन्द्रियसन्ततीनाम् ।
संप्रोच्यते मुनिभिरेष यमः प्रसिद्धः
संसेवनीय इह योगिभिरादरेण ॥ ४ ॥

साजात्यबोधजनकोऽस्ति च यः प्रवाहो
वैजात्यबोधनिवहस्य निरासकर्ता ।
आनन्दमाविततनुते परमं च चित्ते
सोऽयं मतोऽत्र नियमः खलु राजयोगे ॥ ५ ॥

अप्राप्य तत्परतरं हृदयेन साकं
वाचो भवन्ति हि यतो विनिवर्तमानाः ।
तन्मौनमस्ति भुवि योगिभिरत्यगम्यं
तस्यैव साधनमिहाचरणीयमास्ते ॥ ६ ॥

वक्तव्यतामुपगतो यदि चेत्प्रपञ्चः
सोऽपि प्रकाममिह शब्दविवर्जितः स्यात् ।
मौनं मतं तदपि यद्वचसोऽस्ति मौनं
तद्बालचेष्टितमिति प्रवदन्ति सन्तः ॥ ७ ॥

आदौ च मध्यसमये च यथाऽवसाने
यत्र स्थितिर्नहि कदापि भवेज्जनानाम् ।
व्याप्तं चराचरमिदं सततं च येन
देशः स एव हि बुधैर्विजनः स्मृतोऽस्ति ॥ ८ ॥

ब्रह्मादि - सर्वभुवनोद्भवजीववर्गं
योऽसौ करालविभवः कवलीकरोति ।
योऽद्वैतसान्द्र - सुखसन्तति-मूलहेतुः
कालं तमेव सुधियोऽत्र समामनन्ति ॥ ९ ॥

तद्ब्रह्मचिन्तनमहो प्रभवेदजस्र-
सानन्दकारणमतीव सुखेन येन ।
गीतं तदासनमिदं त्वथ मूलबन्ध-
स्तन्नित्यवस्तुपरिलब्धिनिदानमास्ते ॥ १० ॥

ब्रह्मण्यसीमनि समे विलयप्रयत्ना-
देहस्य साम्यमिति जल्पितमस्त्यभिज्ञैः ।
नैवात्र शुष्कतरुवत्समता मुनीन्द्रै-
रङ्गीकृता श्रुतिसमादृतराजयोगे ॥ ११ ॥

चित्तोत्थ-सर्वविधभाव - कदम्बकेषु
ब्रह्मैव सर्वमिति भावनया जगत्याम् ।
अभ्यर्हितः सकलवृत्तिनिरोधरूपो
विद्वद्वरैः सदसुसंयम उच्यतेऽत्र ॥ १२ ॥

वातेन पूरणपरः स तु पूरकाख्यो
वातावरोधजनितः किल कुम्भकोऽस्ति ।
वायुप्ररेचनविधिः स च रेचकाख्यो
एतत्त्रयं स्तुतमहो नहि राजयोगे ॥ १३ ॥

यावत्प्रपञ्चनिवहस्य निषेधरूपः
संरेचको निगदितोऽखिलयोगिवर्यैः ।
ब्रह्मैव चाहमिति पूरकनामधेय-
स्तन्निश्चलस्थितिरदर्शि स कुम्भकोऽस्ति ॥ १४ ॥

ब्रह्मस्वरूपमखिलं परिचिन्त्यते यद्
विज्ञानदर्शनवता भुवनं हि पुंसा ।
दृष्टिस्थितिर्निगदिता खलु सैव रम्या
नासाग्रदर्शनपरा किल निन्दनीया ॥ १५ ॥

दृष्टिश्च दर्शनमथापि च दृश्यजातम्
एतत्त्रयस्य विरतिः समुदेति यत्र ।
तत्रैव दृष्टिरमला विबुधैर्विधेया
संस्थापिता नहि शुभा निजनासिकाग्रे ॥ १६ ॥

सर्वेषु चैव विषयेषु निजात्मबोधं
विज्ञाय तत्र मनसश्चितिमज्जनं च ।
प्रत्याहृतिस्तु विहिता परिसेवनीया
योगीन्द्रसंज्ञक-मुमुक्षुभिराप्तकामैः ॥ १७ ॥

यत्रैव गच्छति मनो भुवि तत्र तत्र
ब्रह्मस्वरूप - परिदर्शनतश्चिराय ।
संस्थापनैव मनसोऽस्ति च धारणा सा
सेव्या सदैव परमात्मपथानुरक्तैः ॥ १८ ॥

ब्रह्मैव चाहमिति सन्ततसौम्यवृत्ती-
रालम्ब्य संस्थितिरहो भुवि सर्वदैव ।
आनन्ददाननिरता परमा मता सा
ध्याने धृतिर्हि विमला श्रुतिविश्रुता च ॥ १९ ॥

ब्रह्मात्मता-प्रथितया शुचिनिर्विकार-
वृत्त्या प्रतिष्ठितिरखण्डनिजस्वरूपे ।
ज्ञानात्मको निखिलवृत्तिविवेकशून्यो
ज्ञेयः स एव मुनिसङ्घनुतः समाधिः ॥ २० ॥

एतेन पञ्चदशसाधनसेवनेन
ब्रह्मस्वरूपमिह चैकरसं ह्यखण्डम् ।
सम्प्राप्य दुर्लभतरं स च योगिराजो
जीवन् महामहिमवानपि मुक्त आस्ते ॥ २१ ॥

भोगात्मता विषयसंस्फुरणं च चित्त-
दोषो विवेकविरहश्च रसानुभूतिः ।
ब्रह्मानुचिन्तन-पराङ्मुखताऽतिनिद्रा
विघ्ना भवन्ति किल राजसमाधिनिघ्नाः ॥ २२ ॥

ब्रह्मावबोधनिरतः सकलान्तरायान्
सत्साधनाचरणतश्च शनैरपास्य ।
सञ्चिन्तयेन्मनसि यादृशमात्मवृत्तिं
तत्साम्यमावहति जीवनमेतदीयम् ॥ २३ ॥

वृत्तिर्मता जगति बन्धनमोक्षहेतु-
स्तस्माद्बुधो हि शुभवृत्तिपरायणः स्यात्।
एतद् विचिन्त्य मुनिरेष परैर्दुरापां
ब्रह्मैक्यवृत्तिमनघामनिशं सिषेवे ॥ २४ ॥

यान्यष्टयोगिजन - पूर्णनिषेवणीया -
न्यङ्गानि विश्रुतचराणि यमादिकानि ।
संवर्णितानि तु पतञ्जलियोगसूत्रैः
प्राधान्यमेषु च सदाचरणस्य पुंसः ॥ २५ ॥

किन्त्वत्र योगमुकुटायित-राजयोगे
प्राशस्त्यमस्ति सुविचारततेर्दृढायाः ।
योगीश्वरो मुनिरसौ निजधारणायाः
प्राबल्यतो विहितसिद्धिमवाप तूर्णम् ॥ २६ ॥

शुक्तौ मतिभ्रमतया रजतस्य बुद्धिः
रज्जौ विमूढमनसामहिनिश्चयश्च ।
स्थाणौ भ्रमस्तु पुरुषस्य यथा ह्युदेति
तद्वच्चिदात्मनि विभाति जगत्प्रपञ्चः ॥ २७ ॥

कोऽहं कथं निखिलविश्वमुदैदपूर्वं
कर्तास्य कोऽस्ति रचितं किल वस्तुभिः कैः ?
आलोचयन्निति सदैव विवेकयुक्तो
निर्वाणमुक्तिमधिगच्छति राजयोगी ॥ २८ ॥

अन्तर्जगत्सु मनसो विलयेन नित्यं
सर्वत्र शाश्वतिक-निर्गुणचिन्तनेन ।
आयासवर्ज-परिपक्व - समाधिरिष्ट -
स्तस्याभवद् द्रुतमशेषनिरोधरूपः ॥ २९ ॥

एषा विलक्षणगतिर्मनसोऽस्य जाता
ह्यभ्यर्हिता बहुलयोगिजनैर्दुरापा ।
या विद्यते निखिलदुःखनिरासहेतु-
स्तां प्राप्य मोदनिभृतः सहसेत्युवाच ॥ ३० ॥

प्राणा न चास्मि न मनो न च बुद्धिरस्मि
नाहङ्कृतिर्न विषया नहि चेन्द्रियाणि ।
भूतानि नाहमपि नास्मि जगत्प्रपञ्चो
ब्रह्माहमस्मि विततामलबोधरूपः ॥ ३१ ॥

सच्चित्सुखैकनिलयोऽहमतीन्द्रियोऽह-
माकारवर्जित-निराश्रयशुद्धबुद्धः ।
आनन्दमूर्तिरनघः परिणामशून्यः
साक्षी समस्तजगतामहमात्मरूपः ॥ ३२ ॥

निर्लिप्त-निर्गलित-संशय-निर्विकार-
रूपोऽस्मि सङ्गरहितोऽव्ययनित्यतृप्तः ।
सच्चिन्मयोऽस्म्यकुहकोऽस्मि निरामयोऽस्मि
जीवो न कोऽपि परिलक्ष्यत आत्मभिन्नः ॥ ३३ ॥

देहे न कापि मम चास्ति कथञ्चिदास्था
नष्टं न मे किमपि चेद् यदि नष्टमेतत् ।
नाहं म्रिये न च कदापि पुनर्जनिष्ये
नित्योऽहमस्म्यजतिमृत्युरपेतभीतिः ॥ ३४ ॥

छेदो न सम्भवति मे भुवि चास्त्रशस्त्रै-
र्दाहोऽपि नैव हि भविष्यति पावकेन ।
अप्यप्सु मज्जनभयं नितरामपास्तं
वायुर्न चापि मम शोषणकर्मणेऽलम् ॥ ३५ ॥

दुःखेषु चैव निखिलेषु च नोद्विजेऽहं
नैव स्पृहा भुवि सुखेष्वपि जायते मे।
निर्द्वन्द्ववीतभयराग-विमुक्तचित्तः
किञ्चिन्न कार्यमपि चास्ति शुभाशुभं मे ॥ ३६ ॥

शीतोष्ण-दुःखसुखदा निखिलास्तु मात्रा-
स्पर्शाः कदापि विबुधं व्यथयन्ति नैनम्।
योगीश्वरः स समदुःखसुखोऽतिधीरो
मृत्युं निरस्य हृदि निर्भयतामुपेतः ॥ ३७ ॥

एतां दशां समधिगच्छति योगिराजे
तस्याश्रमो-ऽयमकुतोभयता-मुपेतः ।
मोदप्रकर्षतति - सम्भृत - जीववर्गः
स्वर्गोपमाऽस्य नितरां हि लघीयसी स्यात् ॥ ३८ ॥

हिंसामपास्य च निजप्रकृतिप्ररूढां
व्याघ्रादि-हिंस्रपशवस्तमुपेत्य तस्थुः ।
हिंसन्ति हिंसकजनान् पशवोऽतिहिंस्रा
स्तेऽहिंसकं जनमुपेत्य भजन्त्यहिंसाम् ॥ ३९ ॥

एकत्र खेलतितरां नकुलाहि-सङ्घः
सिंहीस्तनांश्च हरिणीशिशवः पिबन्ति ।
रौद्र - प्रभाकरकरोद्गत - तापतप्ताः
सर्पाः श्रयन्ति सुखदानिह बर्हिबर्हान् ॥ ४० ॥

क्रीडाविधानरत-निर्भय - हस्तिशावै-
राकृष्यमाण-निजकेसर - सन्ततिभ्यः ।
मोमुह्यमानहृदयाः स्पृहयन्ति तत्र
क्षुत्पीडया व्यथितकेसरिणोऽतिभीमाः ॥ ४१ ॥

सङ्गः प्रकाममपि विष्वगनोकहानां
सर्वर्तुषु प्रमुदिता व्रततीततिश्च ।
याच्ञां विनैव विकिरन्ति फलं प्रसूनं
कल्पद्रुमायितमिदं विपिनं समस्तम् ॥ ४२ ॥

तस्यैकदाश्रमपदं रुचिरं समेत्य
कालेन कोऽपि भुजगः स्वफणां वितन्वन् ।
तं सेवते स्म मुनिमस्तमिते दिनेशे
नित्यं स्वकीयनिलयं स निवर्तते स्म ॥ ४३ ॥

हिंस्रैरहर्निशमहो परिसेवितत्वात्
तस्यान्तरङ्ग उदियाय न कापि शङ्का ।
सर्पस्य किन्तु नियमेन समागतिः सा
योगीश्वरस्य हृदि विस्मयमाततान ॥ ४४ ॥

अन्येद्युरन्तिकमुपस्थितवन्तमेनं
साश्चर्यमाह महनीय - महामहर्षिः ।
'हंहो भुजङ्गमवरेण्य ! ममाश्रमेऽस्मिन्
नित्यं त्वमेषि कथयस्व निदानमस्य' ॥ ४५ ॥

एतां महर्षिमुखनिर्गलितामुदारां
वाचं निशम्य भुजगः स तु पञ्चकृत्वः ।
भूमौ विलुठ्य विनयेन ननाम मूर्ध्ना
प्रातिष्ठतात्मनिलयं न किमप्युवाच ॥ ४६ ॥

ब्राह्मं मुहूर्तमधिगम्य समाधिभाजि
श्रीयोगिराजहृदये परितः प्रशान्ते ।
आहेय-वागुदचरत् 'त्वहमास पूर्वं
संन्यासधर्मनिरतः किल साधुरेकः ॥ ४७ ॥

कर्मान्तरं तु न मयाऽऽचरितं निषिद्धं
प्राग्जन्मनि व्यसनधर्मवति स्वकीये ।
किन्त्वर्थसंग्रहरतिर्हि ममास तस्मात्
सर्पस्य विग्रहमहं धृतवान् महोग्रम् ॥ ४८ ॥

कालो महान् व्यतिगतो मुनिसत्तमाऽत्र
देहेऽशुभे निवसतो मम दुःखमूले ।
मामुद्धरस्व भगवन् दयया त्वदन्यं
धन्यं शरण्यमधुना कमहं व्रजेयम्' ॥ ४९ ॥

श्रुत्वा व्यषीददहिदीनगिरं समाधौ
सद्यो महर्षिरभवत् करुणार्द्रचेताः ।
नित्यं विधिं परिसमाप्य विभात एत्य
रम्यं शिलाफलकमेककमध्युवास ॥ ५० ॥

अभ्यर्णमेत्य विनयेन भुजङ्गमोऽसौ
स्वं कुण्डलित्वमधिकृत्य फणां वितत्य ।
एतद्भुजङ्गवपुषो निजमुक्तिमिच्छन्
शान्तो महर्षिमुखमेकमना निदध्यौ ॥ ५१ ॥

दृष्टिर्यदा निपतिता भुजगे महर्षेः
क्षिप्रं स्मृतेः पथि गताऽस्य समाधिवार्ता ।
सङ्कल्पपूर्वकमयं मुनिरात्मगीतै-
काध्यायपाठफलमार्पयदस्य मुक्त्यै ॥ ५२ ॥

पुण्यं प्रदत्तमिदमाप्तमहो यदैव
सार्पं कलेवरमसौ विजहे तदैव ।
नैवास्ति किञ्चिदपि दुष्करकार्यमत्र
यद् योगिनां स्वतपसा न हि सिद्धिमेति ॥ ५३ ॥

सूचीमुखोऽद्भुत - महोदरवाननीशः
प्रोत्कण्टकायिततनूरुह ऊर्ध्वकेशः ।
क्षुत्क्षामदीनवदनोऽतिमहोग्रमूर्तिः
प्रेतोऽपि कोऽपि मुनिमेत्य कदाप्यवादीत् ॥ ५४ ॥

'मत्कर्म हन्त विदितं सकलं तवाऽऽस्ते
ज्ञातं दुरन्तमखिलं मम दुःखजातम् ।
क्लेशं निवेदयति चैष जनस्तथापि
स्तन्यं न मार्पयति चीत्कृतिमन्तरेण ॥ ५५ ॥

जन्मान्तरेऽहमभवं प्रतिषिद्धधर्मा
कर्माणि शास्त्रविमुखान्यहितान्यकार्षम् ।
भूदेव - देव - सुरमिश्रित - वृत्तिहर्ता
पितृनुपेक्ष्य निजपुत्र - कलत्र - भर्ता ॥ ५६ ॥

वादेन चापि सुधियां स्वधियाऽवमन्ता
स्त्री-विप्र-बालक-गवामविचार्य हन्ता ।
अन्यैरनेकदुरिताचरणैश्च सोऽहं
प्रेतत्वमुग्रमभजं मृतिमभ्युपेतः ॥ ५७ ॥

पुत्राः कलत्रमितरेऽपि मृता ममात्म-
सम्बन्धिनश्च नहि केचिदिहावशिष्टाः ।
काष्ठैश्चितिं सुविरचय्य च पावकेन
संस्कृत्य ये परिदहेयुरहो शवं मे ॥ ५८ ॥

गृद्धैश्च मौकुलिकुलैश्च शृगालसङ्घै-
रत्यन्तगर्हिततमैर्बहुजन्तुभिश्च ।
दुर्गन्धितं मम वपुर्मृतमात्मतृप्त्यै
कर्षद्भिरन्यत इतश्च ततो बभक्षे ॥ ५९ ॥

पापार्जितं मम धनं तदनात्मनीनं-
गोरण्डशासनभरं जगृहे समस्तम् ।
श्राद्धं न केनचिदिहाचारितं ततोऽयं
दुःखार्णवे निपतितोऽस्मि पिशाचरूपे ॥ ६० ॥

नित्यं निपीडिततरस्य बुभुक्षया मे
शुष्यद्गलस्य सततं च पिपासयाऽपि ।
कुत्रापि किञ्चिदपि चान्नजलं न लब्धं
संधावतः प्रतिदिनं शतयोजनानि ॥ ६१ ॥

शुद्धेषु चान्यकलवस्तुषु भोजनीये-
ष्वम्भस्सु दैवजगता परिरक्षितेषु ।
निन्द्य-क्रियाचरणतस्त्विह दण्डभाजा-
मास्ते मनागधिकृतिर्नहि मादृशानाम् ॥ ६२ ॥

प्रेतेन तत्तदभिमन्त्रितमन्नपानं
श्राद्धेषु दत्तमिति चेत्परिलभ्यतेऽत्र ।
नो चेत्सदाप्यसुखसंततिसंरतस्य
प्रेतस्य नैव भवतीह कदापि तृप्तिः ॥ ६३ ॥

पानीयमन्नमपि यन्नितरामपूत-
मुच्छिष्टमस्ति परिनिन्दितशोणितं च ।
देवाधिकाररहितत्व - निषिद्धरूपं
तत्प्राप्यते कथमपि प्रयतेन तेन ॥ ६४ ॥

सुस्वादुशीतजलमृत्सु महासरित्सु
देवापगाप्रभृतिषु प्रथितासु तासु ।
देवान् मुनीनपि पितॄन् परितर्पयन्तं
दृष्ट्वा नरं मम भवत्यतुलःप्रमोदः ॥ ६५ ॥

आब्रह्मणोनिखिलजीवहिताय कोऽपि
साद्धं तिलैर्भुवि ददाति तिलाञ्जलीन्स्वान् ।
तत्तर्पणस्य वचनं च सदा प्रयुञ्जेत्
तेनाहमत्र परमां मुदमाश्रयामि ॥ ६६ ॥

'वेताल'नामधर एक इहास्ति वर्गः
संशास्ति योऽखिलपिशाचगणं विषणम् ।
तृप्तिं यदाहमधियामि तदा प्रहारं
क्रूरः करोति कशया नयते ततश्च ॥ ६७ ॥

धर्मः समुज्झितपदो भुवि भारतेऽत्र
श्राद्धं च तर्पणमहो विलयं प्रयाति ।
तस्मादशान्तिशतसङ्कुलिताः समेऽपि
सम्प्राप्नुवन्ति बत दुर्गतिमप्रमेयाम् ॥ ६८ ॥

अस्माकमस्ति वसतिः परितो नृलोकं
श्रेण्योऽपि नो बहुविधा विविधस्वरूपाः ।
श्राद्धादृते तु बहवोऽमितदुःखभाजः
किन्त्वेषु चास्म्यहमतीव दुरन्तदुःखः ॥ ६९ ॥

दीनस्य दुःखजलधौ विनिमज्जितस्य
कश्चिद्विधिं मम समुद्धरणाय कर्तुम् ।
नन्नम्यमानशिरसाऽघविनाशदक्षं
संप्रार्थयामि करुणावरुणालयं त्वाम् ॥ ७० ॥

श्रुत्वा पिशाचवदनादतिदीनवाचं
प्राञ्चद्दयापरवशो मुनिपुङ्गवोऽसौ ।
क्लिश्यत्करालवपुषस्तमिमं पिशाचं
धीरो गभीरवचसा यतिरित्युवाच ॥ ७१ ॥

मा भैस्त्वमेहि ममसन्निधिमुग्ररूप
हे हे पिशाच ! न जहे शरणागतं त्वाम् ।
किञ्चित् स्वकीयतपसः फलमर्पयामि
तेनाशु शाश्वतिकसौख्यमुपैष्यसि त्वम् ॥ ७२ ॥

स यतिवरवरेण्यो वाचमेतां प्रयुज्य
शुचि रचिततपस्यापुण्यमस्मै प्रयच्छन् ।
मृतकहितगयायां श्राद्धमप्यारचय्य
निजशरणमुपेतं प्रेतमप्युद्धधार ॥ ७३ ॥

इति श्री कविवर्य विन्ध्येश्वरीप्रसाद शास्त्रि विरचिते महर्षि
श्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये दशमः सर्गः ॥



अथैकादशः सर्गः

निवासकालेऽर्बुदपर्वते यते-
महातपो ग्रीष्म ऋतुः समाययौ ।
प्रसह्य सर्वानपि चासुधारिणो
महातपोऽभ्यस्तुमिव प्रवर्त्तयन् ॥ १ ॥

उपद्रुतं त्वं परतन्त्रतार्त्तिभि-
र्भवेर्नहे भारत दुःखितं भवे ।
भवेदवश्यं तव दुःखनिर्वृतिः
समागतोऽसाविति शिक्षयन्निव ॥ २ ॥

न चात्र दुःखेन विना सुखागमो
भवत्त्यतः सर्वजनैरपि ध्रुवम् ।
समागतं दुःखमिदं प्रयत्नतो
निषेवणीयं मनसा प्रसीदता ॥ ३ ॥

यथा चलाः स्यन्दनचक्रनेमयो
भ्रमन्त्यधो वा क्रमशो ह्युपर्यपि ।
तथैव दुःखानि सुखानि जीवने
सदा समायान्ति पुनः प्रयान्ति च ॥ ४ ॥

दिनेश्वरश्चापि विभावरीश्वरो
दिनावसाने च निशान्त आगते ।
उपेत्य चास्तं पुनरेव तावुभा-
वुदेत्य काले व्रजतः समुन्नतिम् ॥ ५ ॥

भुवीह सर्वैरसुधारिभिर्जनै-
श्चिराय नैका स्वदशाऽनुभूयते ।
अशान्तिभिर्यो मनुजो विषीदति
स एव कालेन भृशं प्रसीदति ॥ ६ ॥

ऋतौ तु शीते शिशिरेऽपि ये नराः
समेत्य वह्निं परितः सिषेविरे ।
प्रयान्ति ते शैत्ययुतां गिरिस्थलीं
निदाघकाले तु समागते सति ॥ ७ ॥

स्वदेशजं यैः प्रकृतिप्रकल्पितं
न शैत्य मुष्णत्व महो प्रसह्यते ।
प्रसह्य ते स्वस्थमिदं निजं वपु-
र्नयन्ति निन्द्यां विपदां शरव्यताम् ॥ ८ ॥

सुशीतभीता मनुजा दुकूलिनो
व्रजन्ति दुःखैरनुकूलमम्भसाम् ।
निरन्तरं स्वं सुखदं निमज्जनं
त एव वाञ्छन्त्यनुकूलमम्भसाम् ॥ ९ ॥

लुलायसंघश्च वराहसन्तति-
र्मृगेन्द्रयूथश्च गजेन्द्र संहतिः ।
दवाग्निसंदाह भयेन कातरा
द्रवन्ति सन्त्यक्त विरोध भावनाः ॥ १० ॥

करैरजस्रं प्रखरैः स उष्णगो-
रसह्य घातैः शरणागतान् सतः ।
हतानवालोक्य हि सूर्यकान्तक-
त्विषा स्वमन्युं वमतीव भूधरः ॥ ११ ॥

मरीचिकास्ता अपदिश्य धावतो
मृगानतृप्तान् परिदर्शयन् गिरिः ।
यदा कदाचिद् विषयांश्चिचीषत-
स्तपस्विनः स्वानिव शिक्षयत्यसौ ॥ १२ ॥

मुनीश्वरा येऽत्र गिरौ समागता-
स्तपः समाधातुमखिन्न मानसाः ।
प्रशुष्यतः पालितवृक्षपोतकान्
भवन्ति दृष्ट्वा बहुखिन्न मानसाः ॥ १३ ॥

तपोव्रताना मवगाहनेच्छया
समागतानां हृदयेषु नित्यशः ।
नदीषु लीनाः किल माकरभ्रमं
निदाघतप्ता जनयन्ति गण्डकाः ॥ १४ ॥

निपानकुल्या प्रभृतिष्वहर्निशं
शकुन्तवर्गाः पयसामभावतः ।
पिपासयार्त्ताः प्रतिभिन्नचञ्चवः
सदाश्रमानेत्य भजन्ति निर्वृतिम् ॥ १५ ॥

किशनगढस्याधिपतिश्च खेतडी-
नरेश्वरः शाहपुरस्य भूपतिः ।
अनेकशोऽन्येऽपिच राजपूरुषा
गिरिं तमीयुः परितापभीरवः ॥ १६ ॥

परम्पराभिः श्रवसां नरेश्वरा
महाप्रभोरस्य समीपमागताः ।
प्रणेमुरङ्घ्रिद्वयमूर्जितप्रभं
प्रसेदुरेतस्य शुभाशिषां चयैः ॥ १७ ॥

निषेदु रानीत कुशासनेषु ते
　　सदा परित्यक्तकुशासना इमे ।
मनःस्थितान् धार्मिकसंशयान् बहून्
　　न्यवेदयन् स्वांश्चरणेऽस्य सादरम् ॥ १८ ॥

समूलमुन्मूलित नैजसंशया
　　अवापुरेते नितरां प्रसन्नताम् ।
शुभाकृते श्चाप्यतुल प्रभावतो
　　निरन्तरेणास्य पदं डुढौकिरे ॥ १९ ॥

स रामचन्द्रो नयनाख्यशास्त्रवित्
　　सुपाणिनिव्याकृतिपण्डितो महान् ।
जयाख्यया यत् प्रथितं शुभंपुरं
　　विपश्चिदीशो न्यवसत्तदन्तिकम् ॥ २० ॥

स्वमृत्युकालं परिभाव्य चागतं
　　गृहस्थितां स्तान्निजदारदारकान् ।
विहाय सर्वानिह पर्वते वसन्
　　ददर्श विप्रः स महर्षिमेकदा ॥ २१ ॥

सुदिष्टलाभात् परमर्षिदर्शनात्
　　स विप्रवर्य्यः कृतकृत्यतां गतः ।
यतीश्वरात् स्वापचितिप्रसादिताद्
　　गृहीतदीक्षो मुमुदेऽन्तरात्मनि ॥ २२ ॥

सपर्यया तस्य नितान्तरम्यया
　　महर्षि रेष प्रससाद मानसे ।
असेवत प्रत्यहमेव तं मुनिं
　　स भूसुरो योगजबोधकाम्यया ॥ २३ ॥

महीश्वरास्ते च महीसुरोऽप्यसौ
यतीश्वराद् योगविधिं बुभुत्सवः ।
समेत्य सर्वे मुनि पुङ्गवान्तिकं
न्यवेदयन् स्वं ह्यभिलाषमेकदा ॥ २४ ॥

विविक्तवासे निरतस्य योगिनो
विरक्तिरस्त्येव मनुष्यसंहतौ ।
तथापि तेषां परमाग्रहार्थितः
स्वशिक्षयद् दुस्तरयोगदर्शनम् ॥ २५ ॥

मनोरमः स्कन्ध पुराणमध्यगः
कुमारिकाखण्ड इहाति विश्रुतः ।
सुसिद्धयोऽशीत्यधिकं शतद्वयं
प्रकीर्त्तितास्तत्र सुरेन्द्रदुर्लभाः ॥ २६ ॥

अतीत संख्याश्च विभिन्नमूर्त्तयो
लसन्ति चाष्टावणिमादि सिद्धयः ।
निरूपिताया इह योगदर्शने
न युष्मदासक्तिरमूषु शोभना ॥ २७ ॥

स्वशास्त्रदृष्टा अपि ताश्चसिद्धयो
निपातयन्त्येव यतीनधोगतौ ।
दुरन्तशक्तीरवधार्य ता अतो
न कोऽपि तत्पाशनिपातमीहताम् ॥ २८ ॥

प्रसिद्धविद्वानपि योगिनां वरः
स सर्वशास्त्रस्य च तत्त्वविद्गुरुः ।
इति प्रबोधं बहुशो ह्युपादिशत्
स्वशिष्यवर्गं प्रणतं दयानिधिः ॥ २९ ॥

अधीत्यगीतोपनिषत्कदम्बकं
　　　　प्रयोगतस्तत् किल योगदर्शनम् ।
मनःस्थित ग्रन्थिविभेदनादिमे
　　　　ममज्जुरानन्दमये पयोनिधौ ॥ ३० ॥

गतेष्वनेकेषु च हायनेष्वसौ
　　　　विदामगम्येऽत्र च योगदर्शने ।
अरीरचद् भाष्यमलौकिकं यति-
　　　　र्निमित्तमासीदिह खेतड़ीपतिः ॥ ३१ ॥

तपस्विनो योगतपश्चिकीर्षया
　　　　विपश्चितस्त्यक्त समस्तकामनाः ।
अनेकशोऽध्यूषु रिमं गिरिं च, तैः
　　　　प्रसर्पदेतच्चिचिते प्रशिक्षणम् ॥ ३२ ॥

विभिन्नयोगाध्ययनार्थमुद्यताः
　　　　समे समेत्यानुदिनं प्रशस्तया ।
निरस्तशङ्काश्च महर्षिशिक्षया
　　　　परं प्रमोदं समवापुरात्मनि ॥ ३३ ॥

कदाचिदेको दशमीं गतो मुनिः
　　　　समाजगामास्य यतेः शुभाश्रमम् ।
स गुप्तरूपोऽपि निजेन वर्चसा
　　　　बलाहकाच्छादितभानुवद् बभौ ॥ ३४ ॥

स आतिथेयापचितिं यतीश्वरा-
　　　　न्मुनीश्वरः प्राप्य सुविष्टरे स्थितः ।
अपृच्छदेनं किमिहार्ष दर्शनैः
　　　　प्रचार्यतेऽन्योन्य विभेदभावना ॥ ३५ ॥

यतीश्वरः प्रश्नगिरं निशम्य ता
मवोचदेषोऽपि मुने निशम्यताम् ।
न दर्शनेष्वेष्विह विद्यते क्वचिन्
मुनिप्रणीतेषु विरोधवादिता ॥ ३६ ॥

विद्याऽप्यविद्येति च शास्त्रसम्मतं
रूपं च शक्तेर्द्विविधं परात्मनः ।
विमुच्यते जीवगणोऽत्र चाद्यया
द्वितीयया कर्मसु संनिबध्यते ॥ ३७ ॥

द्विसप्तसंख्याः क्रमबोधशालिनः
स्तरा लसन्ति श्रुतिविश्रुताः श्रुताः ।
अविद्ययाऽऽद्याः किल सप्तचालिताः
प्रचालिताः सप्त च विद्ययाऽन्तिमाः ॥ ३८ ॥

यथा च सोपानततेः समाश्रयान्नरो
हि सौधोपरिगच्छति द्रुतम् ।
तथैव विद्वानपि दर्शनक्रमं
स्वधीत्य तद्ब्रह्म समेति सत्वरम् ॥ ३९ ॥

चतुर्दशाप्ता शुविबोधभूमयो
लसन्ति वेदप्रतिपादिताश्च याः ।
उदेष्यमाणोदित संविदस्तिता
कदापि नैवात्र ततोऽतिरिच्यते ॥ ४० ॥

चतुर्विधायामिह भूतसंहतौ
क्रमाच्चतस्रो विकसन्ति चित्कलाः ।
चिदो विकासस्य च पञ्चमः स्तरो
देहात्मवादाह्वयतां प्रपद्यते ॥ ४१ ॥

यथायथं भूतसमूहमेलनाद्
देहेषु देही सुविकासमश्नुते ।
देहावसाने तु पुनर्विनश्यति
श्रुतेति चार्वाककथा पुरातनी ॥ ४२ ॥

स्कन्धाश्च ये पञ्च लसन्ति विश्रुताः
समष्टिरेषां किल चात्मरूपताम् ।
बिभर्ति चेत्थं कलयन्ति ये बुधा
बौद्धास्तु देहात्मभुवि प्रतिष्ठिताः ॥ ४३ ॥

जैनाश्च ये पुद्गलवादिनो विद-
स्तदीय आत्मागलनाच्च पूरणात् ।
समं शरीरैर्ह्रसति प्रवर्धते
देहात्मकक्षामिह तेऽपि बिभ्रति ॥ ४४ ॥

स्नेहाश्रिता दीपशिखा यथा भुवि
स्नेहं विना निर्वृतिमभ्युपैति सा ।
अनादिसंस्कार समूहनाशत-
स्तथाऽऽत्मसत्तेति मतं हि सौगतम् ॥ ४५ ॥

विमुक्त आत्मा कुहचित्स्थले भृशं
विश्रान्तिमाप्नोति न जायते पुनः ।
न तत्र चेशस्य दया ह्यपेक्ष्यते
मतं त्विदं पुद्गलतत्त्ववादिनाम् ॥ ४६ ॥

विपश्चितां बौद्धमतावलम्बिनां
जिनाश्रितानां विदुषां च भारते ।
अनेकभेदा विलसन्ति तात्त्विका-
स्तेषां कथा व्यर्थमिह प्रतीयते ॥ ४७ ॥

एवंविधा दर्शनपद्धतिः क्षिता-
बुदेष्यमाणा ह्युदिता च याऽधुना ।
निरीश्वरा नैव समादृताऽऽस्तिकैः
सत्ता तदीयाऽपि च वेदसम्मता ॥ ४८ ॥

विरोचनः स्वर्गपतिश्च वृत्रहा
चतुर्मुखस्यान्तिक मभ्युपेत्यतो ।
तदात्मतत्त्वं ह्युपदिश्यतां प्रभो
सप्रश्रयं वाचमिमां तमूचतुः ॥ ४९ ॥

उवाच वेधाः—"शृणुतं, मुखाकृतिः
प्रतिष्ठिता या परिशुद्धदर्पणे ।
तदात्मतत्त्वं हृदि चिन्तयेत्सुधीः"
वचस्तदाकर्ण्य विरोचनो गतः ॥ ५० ॥

परन्तु नैतेन तुतोष वृत्रहा
पुनः पुनः सत्परिपृच्छयाचिरम् ।
तदात्मतत्त्वं ह्यनुशीलयन्नसौ
समभ्यगच्छत् किल तत्त्वतोऽखिलम् ॥ ५१ ॥

इमां कथां चोपनिषत्प्रकीर्त्तितां
विदन्ति सर्वेऽपि विवेकिनो बुधाः ।
तदाश्रयावास्तिक नास्तिकाभिधौ
प्रशस्तवादौ भुवने ससर्पतुः ॥ ५२ ॥

देहातिरिक्तात्मविवेकिदर्शनं
प्रचारितं यद् यदिहोपलभ्यते ।
समस्त मेतच्छ्रुति सम्मतं भव-
त्यसंशयं षष्ठकवर्गमाश्रितम् ॥ ५३ ॥

शक्तिर्भवेत्काचिदगम्यरूपिणी
जगत्समग्रं परिचाल्यते यया ।
अशेष विज्ञान विदां मतं त्विदं
ज्ञेयं बुधैः सप्तमकक्षगं ध्रुवम् ॥ ५४ ॥

वैज्ञानिका ये जडतत्त्ववादिन-
स्तच्छक्तिरूपं न हि तत्त्वतो विदुः ।
प्रत्यक्षभिन्नामनुमानगोचरां
तदेकशक्तेः कलयन्ति कल्पनाम् ॥ ५५ ॥

इमास्तु बोधप्रदसप्तभूमयः
क्रमस्तुतास्ताः श्रुतिसम्मता मताः ।
परन्त्वविद्यापरिचालिता अतः
समादृता नैव महर्षिपुङ्गवैः ॥ ५६ ॥

अमूर्न सप्ताऽपि परात्मदर्शनं
स्वसेविनः कारयितुं नरानलम् ।
अतः परब्रह्म विचिन्तकैर्बुधै-
रुपेक्षिता नैव तिरस्कृता अपि ॥ ५७ ॥

अनार्यविद्वद्गणनोदिताऽत्र या
निवेदिता दर्शनपद्धतिस्तु सा ।
मुने त्वया ध्याननिरुद्धचेतसा
निशम्यतां दर्शनरीतिरद्भुता ॥ ५८ ॥

यतोऽखिलं दार्शनिकं विदां मतं
समाप्तिमाप्नोति जगत्प्रवर्त्तितम् ।
ततः समुद्यन्ति हि सप्तसंख्यका
महर्षि सञ्चालित दर्शन क्रमाः ॥ ५९ ॥

स गौतमोऽसौ कणभुक् पतञ्जलिः
साङ्ख्यो भरद्वाजमुनिश्च जैमिनिः ।
अथाङ्गिरा व्यासमुनिश्च सन्त्यमी
प्रवर्त्तका दार्शनिकार्षपद्धतेः ॥ ६० ॥

स गौतमेन प्रतिपादितोऽमलो
न्यायाख्यया विश्रुत आदिमः स्तरः ।
तमाश्रयन् षोडशतत्त्वबोधतो
ज्ञानं प्रशस्तं विबुधोऽधिगच्छति ॥ ६१ ॥

इत्थं सुसूक्ष्मामधिगत्यवादतो
बुधेन नित्याः परमाणु सन्ततीः ।
अवेत्य चेशोऽनुमतः कुलालवत्
सचाऽस्ति कर्त्ता जगतश्च मन्यते ॥ ६२ ॥

स्तरेण चानेन जनस्य मानसे
परात्म बोधस्य सुबीजमुप्यते ।
अतोऽस्त्ययं "ज्ञानद" संज्ञया श्रुतः
समूलमज्ञानततेर्विनाशकः ॥ ६३ ॥

स्तरो द्वितीयः स कणाददर्शितो
दधाति वैशेषिकनाम यो भुवि ।
विविच्य वैज्ञानिकधर्मलक्षणं
पदं च नैःश्रेयसिकं नयत्यसौ ॥ ६४ ॥

सर्वांश्च संन्यस्य पदार्थ संहती-
रिहैकया केवल धर्मसेवया ।
निदर्शयत्येष परात्मनः पदं
ततोऽस्ति "संन्यासद" नामविश्रुतः ॥ ६५ ॥

स्वचित्तवृत्ति प्रतिरोधशिक्षया
सदेकतत्त्वं परिचिन्त्य संयमात् ।
जगत्पतिं तस्य च शक्ति संहतीः
पृथक् पृथग् योगिजनो निरीक्षते ॥ ६६ ॥

पतञ्जलिर्यस्य निदर्शको मतो
ददाति योगं किल योगदर्शनम् ।
अलौकिकीं दर्शनशक्तिमर्पयन्
स्तरस्तृतीयो भुवि "योगदः" स्मृतः ॥ ६७ ॥

विचित्रया वै प्रकृतेर्हि लीलया
निबध्यमानाः पुरुषा निरन्तरम् ।
न चात्मरूपं परिचिन्वते ततो
भ्रमन्ति चक्रेऽत्रगमागमात्मके ॥ ६८ ॥

अशेष विज्ञान महार्णवोऽस्ति यो
विचिन्त्य चेत्थं कपिलो महामुनिः ।
अरीरचद् यद् भुवि सांख्यदर्शनं
स्तरश्चतुर्थो "गुणबन्धमोचकः" ॥ ६९ ॥

अतीव चित्रा भुवि कर्मणोगति-
र्नशक्यते बोद्धुमहो बुधैरपि ।
अनन्त ब्रह्माण्ड विलासिचिज्जडं
नियन्त्रितं वेद्यमनादिकर्मणा ॥ ७० ॥

समस्त विश्वं प्रकृतेः परात्मनो
ह्यभेदरूपं परिचिन्तयन् दृशा ।
प्रधानता कर्मण एव विद्यते
जगत्प्रपञ्चेष्विति मन्यते बुधः ॥ ७१ ॥

अनेकधा कर्मकलाप लापकं
भवे भरद्वाजमुनि प्रवर्त्तितम् ।
जगत्समग्रं परमात्मरूपभृत्
सुमन्यते तत्खलु कर्म दर्शनम् ॥ ७२ ॥

अनन्त विश्वं हि सतः पदं स्मृतं
ततोऽस्ति तत् सत्यपरात्मरूपकम् ।
प्रदर्शयत्येष जनानतो मतः
स "सत्पदाख्यो" भुवि पञ्चमः स्तरः ॥ ७३ ॥

महर्षिणा जैमिनिना विनिर्मितं
सुदर्शनं श्रौतविधान सम्मतम् ।
तदप्यदो यज्ञविधेः प्रवर्त्तकं
विवोध्यमास्ते किल पञ्चमस्तरे ॥ ७४ ॥

उपासनादर्शनमेकमद्भुतं
जगत्सु यच्चाङ्गिरसं प्रचक्षते ।
स्तरो हि षष्ठः प्रतिपादितोबुधै-
र्यमाश्रितैर्भक्ति रवाप्यतेऽमला ॥ ७५ ॥

दयामये प्रेमनिधानचिद्घने
परानुरक्तिर्हि परात्मनीश्वरे ।
बुधैस्तु भक्तिर्व्यपदिश्यते यया
समस्तकामा भुवि यान्ति चास्तताम् ॥ ७६ ॥

विवेकिनो भागवतानुकम्पया
जडानि कर्माणि च चेतनो विभुः ।
अवाप्य यज्ज्ञानमिदं जगत्पते-
रुपासनायां निरता इहासते ॥ ७७ ॥

अनन्तसौख्ये रससागरे विभौ
निमज्जनोन्मज्जनमाचरन्ति यत् ।
तदेव चाभ्यर्हितमामनन्ति ते
सुखं, तदन्यत् किल गर्हितं विदुः ॥ ७८ ॥

स सात्त्विको दार्शनिकोऽतिदुर्लभः
परेशभक्तौ निरतात्मनां सताम् ।
करोति सानन्दपदे प्रतिष्ठितं
स्तरोऽय "मानन्दपदो" निगद्यते ॥ ७९ ॥

यदस्ति वेदान्तसमाख्यदर्शनं
विदस्तु तद्व्यासविनिर्मितं जगुः ।
यदास्थितो ब्रह्मणि लीयते परे
स सप्तमः सर्वसमुन्नतः स्तरः ॥ ८० ॥

न तत्परं ज्ञानमिहास्ति किञ्चन
न तद्गतो ना विनिवर्त्तते पुनः ।
परात्मविज्ञाननिदर्शनादयं
बुधैः समाम्नायि "परात्परा" भिधः ॥८१॥

यथा घटादिस्थितमन्तरिक्षकं
घटादिनाशेन महाविहायसि ।
विलीयते देहगतोऽपि चेतनो
विलीनतां याति चिदम्बुधौ तथा ॥ ८२ ॥

विभेदबुद्धिर्नितरां विनश्यति
दधाति देही च परात्मनैकताम् ।
तदद्वितीयं पदमेत्य निर्वृतो
न बध्यते वै पुनरेष मायया ॥ ८३ ॥

इति ब्रुवाणं यतिपुङ्गवं मुनि-
जंगाददोर्भ्यां परिरभ्य चागतः ।
परिष्कृतिर्दर्शन पद्धतेस्त्वया
करिष्यते वाचमुवाच निर्गतः ॥ ८४ ॥

नृपादयो येऽध्ययनार्थमागता
इदं निरूचुर्वचनं परस्परम् ।
गतो मुनिर्व्यास इव प्रतीयते
निवारितास्ते यतिना विजानता ॥ ८५ ॥

अधीतिषुश्रौतविबोधविश्रुतः
किशनगढस्थो नृपतिर्महामतिः ।
बभूव शार्दूलसमाख्यया युतो
न नामतोऽसौ गुणतोऽपि तादृशः ॥ ८६ ॥

वचोदमो देहदमो मनोदम-
स्त्रयश्च दण्डाः कथिता मनीषिभिः ।
इमे च येषां वशगा भवन्ति ते
मताः प्रशस्ता यतयस्त्रिदण्डिनः ॥ ८७ ॥

वचः शरीरं च मनः समाश्रयन्
करोति कार्यं मनुजः शुभाशुभम् ।
अतस्तदीया निखिला कृतिः शुभा
त्रयं भवेद् यस्य वशे विपश्चितः ॥ ८८ ॥

यतोऽनुरागं भजते जनस्तु यत्-
परोक्षमासाद्य गुणांश्चकीर्तयेत् ।
यदीयसान्निध्यमुपेत्य जन्तवो
भयं न कुर्वन्ति स योगिनां वरः ॥ ८९ ॥

अलोलुपत्वं च दया ह्यरोगिता
मले च मूत्रेऽशुभगन्धहीनता।
प्रसादकान्ती स्वरसौम्यता तथा
ह्यमूनि चिह्नानि भवन्तियोगिनाम् ॥ ९० ॥

विविक्तवासो जनसंगतोऽरुचि-
र्जितेन्द्रियत्वं च शुचित्वमेव च।
प्रमादहीनत्वमपीश्वरे रतिः
समाहितत्वं यतिलक्षणं विदुः ॥ ९१ ॥

समश्च लोष्ठेषु च काञ्चनेषु यः
समस्तभूतेषु समानदर्शनः।
प्रतिष्ठितो यः किल शाश्वतेपदे
यतिर्मतोऽसौ भुवनेषु दुर्लभः ॥ ९२ ॥

सुदुर्लभैस्तैर्यतिलक्षणैर्युतं
निरस्त भोगादिसमस्तवासनम्।
महर्षिमेनं मुमुदेऽवलोकयन्
नृपः स शार्दूलसमान विक्रमः ॥ ९३ ॥

कुलं पवित्रं जननी च पुत्रिणी
कृतार्थतां यास्यति तस्य पत्तनम्।
बुधैर्नुतस्यास्यपदाब्जरेणवः
शुभाः पतिष्यन्ति हि यस्य सद्मनि ॥ ९४ ॥

किरीट संसक्तमहार्घ्यहीरका-
द्यनेक रत्नोद्गतभास्वरत्विषा।
विकासयंस्तन्मुनिपादपङ्कजं
निजं पुरं नेतुमियेष भूपतिः ॥ ९५ ॥

समाप्त नैजाखिलयोग साधन-
स्तपोधनोऽपि प्रमुदान्तरात्मना।
नृपस्य तस्यावसथं विलोक्तिं
ददौ यतीनां पतिरात्मसम्मतिम् ॥ ९६ ॥

अथ श्रौतस्मार्त्तप्रखर परिबोधैकनिलयः
प्रसिद्धो राजर्षिर्जनकसदृशोऽयंनरपतिः।
यदाज्ञासीदिष्टां स्वपुरगमनेहां यतिपते-
स्तदाऽऽनन्दाम्भोधौ महति निममज्जास्यहृदयम् ॥ ९७ ॥

इति श्री कविवर्य विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्रि विरचिते
महर्षि श्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये
एकादशः सर्गः ॥



॥ अथ द्वादशः सर्गः ॥

विनयै रमितैः किशनगढेशः
स्वपुरं तं मुनिसत्तमं निनाय ।
उररीकृतवान् यतेर्निदेशं
समनुष्ठातुमियेष सोमयागम् ॥ १ ॥

अनुभावयुतो महोग्रतेजाः
विपुलद्रव्यपराक्रमैकसाध्यम् ।
नृपतिर्हि विधातुमीश्वरस्तद्
यजनं सोमसमाह्वयं प्रसिद्धम् ॥ २ ॥

न कदापि च यत्र गोवधोऽस्ति
स्थलमेतत् परिशुद्धयागयोग्यम् ।
गुरुवाचमिमां विचिन्त्य धीमान्
नृवरस्तस्य विमार्गणे रतोऽभूत् ॥ ३ ॥

स हि भारतपुण्यभूमिभागो
यवनैर्भूपतिभिः कदर्यरूपैः ।
नरधर्मपराङ्मुखैः कृतघ्नै
रहहाऽनेक विधैरुपद्रुतोऽभूत् ॥ ४ ॥

निजसप्तशताब्दशासनेऽस्मिन्
समये तैरतिनिंद्यं विधेयम् ।
विदधे यदतीव निन्दनीयं
तदहो ! कः कविरस्ति वक्तुमीशः ॥ ५ ॥

प्रथमं रुचिरः क्रिशन्गढोऽयं
नगरं रूपयुतं दधे स्वनाम।
दधती नगरानुरूप रूपं
नरनाथस्य बभूव कन्यकैका ॥ ६ ॥

अधमो यवनोऽवरङ्गजेबो
नृपपुत्री - रमणीयरूपदीपे।
शलभायितुमाययौ वराको
वररूपं परिगृह्य कामविद्धः ॥ ७ ॥

यवनाधिपतिर्हि जम्बुकोऽसा-
वुपयुक्ताह्वय राजसिंहनाम्ना।
प्रथितोग्ररुषा महारणेन
प्रबलेनाशु पराजितो निरस्तः ॥ ८ ॥

यवनाधमभूमिपालपाशैः
कतिभिश्चिन्निजशासनस्यकाले।
सुरमन्दिर विग्रहादिनाशो
विहितो यो भुवि स प्रसिद्ध आस्ते ॥ ९ ॥

इह लब्धुमतीव दुःशका या
रुधिरैः कर्दमिता गवां न भूमिः।
अत एव हि कुत्र साधनीयः
परिपूतो महनीय सोमयागः ॥ १० ॥

इति चिन्तयतो महीश्वरस्य
नितरां खेदमवाप तस्य चित्तम्।
स च भूमिपतिः स्वकार्यसिद्ध्यै
गुरुवर्य्यस्य पदाम्बुजं प्रपन्नः ॥ ११

किशनाख्यगढस्य नातिदूरे
विमलः शुद्धसरोवरोऽचकास्त ।
स च यावन शासनस्य काला-
दपि पूर्वं स्थित आस पुण्यभूमिः ॥ १२ ॥

इतिवृत्त युतैः प्रमाणपत्रै-
रवगत्य क्षितिपं जगाद योगी ।
ह्रद एष निरस्तगोवधत्वात्
सुतरां शुद्ध इतीह नास्ति शङ्का ॥ १३ ॥

परिवाहय तोयमेतदीयं
स्थलतां प्रापय भूपते ! द्रुतं तम् ।
विरचय्य च तत्र पूत भूमौ
क्रतुयोग्यं शुचि मण्डपं प्रशस्तम् ॥ १४ ॥

सुयशस्करमस्ति भूभुजां यद्
यजनं पुण्यतमं च सोमनाम ।
त्वमये नरपाल ! मन्निदेशाद्
विचिकित्सां त्यज शीघ्रमारभस्व ॥ १५ ॥

गुरुवाचमिमां सुयुक्तियुक्तां
मुमुदे धर्मपरो नृपो निशम्य ।
अपरोऽपि नृपानुयायिवर्गः
सकलः स्वीकृतवान् परं प्रसद्य ॥ १६ ॥

जलसारकयन्त्रयोगतस्तत्
सरसो मध्यगतं जलं निरुद्य ।
परिशोध्य भुवस्तलं तदीयं
सवनीयं वरमण्डपं मनोज्ञम् ॥ १७ ॥

क्रतुशास्त्रविधान शुद्धरूपं
कुशलैः शिल्पकलाविदां वरेण्यैः ।
स्वयमेव नृपः स सावधानो
रचयामास समादृत प्रयत्नः ॥ १८ ॥

परितोऽपि च सोमयज्ञशाला-
मतिथीनां महतां निवासयोग्याः ।
पटवेश्म गृहाश्च कौशपूता
रचिता स्तत्र शताधिकं विचित्राः ॥ १९ ॥

नितरां कठिनः कलौयुगेऽस्मिन्
परमार्थश्रुतियाग सम्प्रयोगः ।
इह वैदिककर्मकाण्डलोपा-
न्नहि साध्योऽन्यविधैः सुधीप्रकाण्डैः ॥ २० ॥

समुपेक्षित एव विद्यतेऽसौ
क्षितिपालैरखिलै रहो धनाढ्यैः ।
रुचिरस्तु कथन्नु तत्र कार्ये
मनुजानामधनार्तिपीड़ितानाम् ॥ २१ ॥

यदि धर्मपरायणो नृपः स्यात्
प्रभवत्येव हि धार्मिकी प्रजापि ।
भुवने परिदृश्यते सदैतन्
महतां चानुसृतिं करोति लोकः ॥ २२ ॥

श्रुति दृष्टिमतीवदुर्लभां तां
क्षितिदेवेषु विवर्धयेत् क्षितीशः ।
अचलो विबुधोऽपि वेदकृत्यैः
परिरक्षां विदधीत भूपतीनाम् ॥ २३ ॥

नृपतीन् विरहय्य भूतलेऽस्मिन्
　　न च ऋघ्नोति कदापि भूसुरत्वम् ।
प्रविहाय तथैव भूमिदेवान्
　　नहि वृद्धिं परियन्ति भूमिपालाः ॥ २४ ॥

स्मृतिवेद विधान साध्यमानैः
　　क्रतुभिस्तुष्यति तैः सुपर्वसंघः ।
परिरक्षति सोऽपि तुष्टिमाप्तो
　　निखिलं स्थावरजङ्गमं नृलोकम् ॥ २५ ॥

यजनं सुरवृन्द तृप्तिमूलं
　　भुवि लोकद्वयमङ्गलैकहेतुः ।
ध्रुवमेव महीश्वरै रजस्रं
　　जनकल्याण परायणैः प्रकल्प्यम् ॥ २६ ॥

सुलभं जगतीदमस्त्यवश्यं
　　कुरुते यस्य समादरं हि लोकः ।
अतिदुर्लभतां कथं न गच्छे-
　　न्मनुजा यत्र कदापि चाद्रियन्ते ॥ २७ ॥

श्रुतिसाधित सोमयाग योग्या
　　अधिगम्या न च ऋत्विजो बभूवुः ।
सति योगिवरेण्य कल्पवृक्षे
　　सुकृतिः का न हि साध्यतामुपेयात् ॥ २८ ॥

दशसप्त महर्त्विजः प्रशस्तान्
　　निखिलश्रौत सदिष्टिमर्मविज्ञान् ।
अपरानपि चाजुहाव यत्नाद्
　　यतिराण् नासिक काशिकादिधाम्नः ॥ २९ ॥

सुखदे सुदिनान्विते मुहूर्त्ते
ह्यनुकूलग्रह ऋक्षयोगयुक्ते ।
गुरुवर्य्ययतीश्वराज्ञया प्राक्
शुभपश्वाङ्गविधिः प्रवर्त्तितोऽभूत् ॥ ३० ॥

अखिलादपि राजपुत्र देशात्
समवेता द्रुतमाययुर्नरेन्द्राः ।
जनतौघ पयोधि पूरमध्ये
यजनारब्धिरभूदभूतपूर्वा ॥ ३१ ॥

मखजातसुधारसस्य पाने
निरतास्ते क्रतुयोजिनः सदेहाः ।
इह हन्तविलोकिताः समस्तै-
र्मनुजैर्धार्मिक भावनासनाथैः ॥ ३२ ॥

विधिना श्रुतिनोदितेन यागो
दिवसान् कांश्चन संचचार पूतः ।
प्रतिवासरमेव सज्जनानामति-
सम्मर्द इहावतिष्ठतेस्म ॥ ३३ ॥

यजनान्त दिने यतीश्वराङ्घ्रि
समुपस्थाय नृपालविज्ञवर्गाः ।
विनयावनता मुनीन्द्रमेनं
निजधर्मं ह्युपदेष्टुमार्थयन्त ॥ ३४ ॥

यतिवर्य्य उवाच सावधानैः
श्रवणीयं वचनं मदीयमास्ते ।
मधुरो हितकारकोऽगदोऽस्मिन्
भुवनेऽसावति दुर्लभो मतोऽस्ति ॥ ३५ ॥

रविसोम कुलेषु जायमाना
नरनाथा अपि पुष्कलर्द्धिमन्तः ।
यदि यज्ञपराङ्मुखा भवेयुः
कथमास्तामिह वेदधर्मरक्षा ॥ ३६ ॥

बहवो निजधर्मरक्षणार्थं
बलिवेद्यां जुहुवुः स्वमस्तकानि ।
अधुना तु तदीयवंशजातै-
र्निजधर्मः समुपेक्षितोऽस्ति दृष्टः ॥ ३७ ॥

भुवि यत्र हि हन्त चैकनार्या
अपमानेन सहस्ररक्तनद्यः ।
परितः परिसुस्रुवुः कराला
बत राजन्यकबन्ध मस्तकोत्थाः ॥ ३८ ॥

भुवि यत्र धरासुताऽपहृत्या
नृवरो दाशरथिर्वनस्थितोऽपि ।
कपिभिः सहजेन चैव साकं
दशकण्ठं सकुलं जघान वीरः ॥ ३९ ॥

भुवि यत्र महीभृदेकधेनोः
परिरक्षार्थं महो दिलीपनामा ।
निजराष्ट्रजनावनैकहेतुं
रुचिरं देहमसूंस्तृणायमेने ॥ ४० ॥

भुवि यत्र ससैनिका नरेन्द्रा
महिलानां शतशःशुचिस्मितानाम् ।
विगणय्य निजानसूननेके
परिरक्षां विदधुर्महाहवेषु ॥ ४१ ॥

अहहा भुवि तत्र शान्तसाध्व्यो
लुठिता धर्महताः स्त्रियो भवन्ति ।
शतशोऽथसहस्रशोऽपि गावो
ऽनुदिनं सन्ति परैर्निहन्यमानाः ॥ ४२ ॥

नृपनामधराः परस्सहस्राः
परदेशेषु वसन्त्यतृप्तकामाः ।
परिभोग विमुग्ध चेतसो हा
वद भो धर्म ! कथं तवोन्नतिः स्यात् ॥ ४३ ॥

यदनर्थकमस्ति वस्तुजातं
नियतिस्तस्य सदा लयं विधत्ते ।
यदि सैव दशास्ति भूपतीनां
भविता नैव भुवीह राजसत्ता ॥ ४४ ॥

इति यज्ञविधेः समाप्तिकाले
यतिवर्य्यस्य वचोनिशम्य भूपाः ।
क्रतुदर्शन कामना समेताः
सुननन्दुः कतिचिद्विचुक्रुशुश्च ॥ ४५ ॥

सुकृतेन किशन्गढेश्वरेणा-
द्भुतरक्ताम्बर नारिकेलमिश्रा ।
पठतां च महर्त्विजामृचस्ता
घृतपूर्णाहुति रानतेन तेने ॥ ४६ ॥

यजनान्त दिने जनौघसंघा-
वभृथस्नान मभूदपास्तपापम् ।
जनतासहिता नरेन्द्रवर्या
मुदमापुः क्रतुभस्मधारयन्तः ॥ ४७ ॥

सुधियः श्रुतिवित्सुतल्लजा ये
यजमानेन विपश्चितोऽपिचाऽन्ये ।
अतिपुष्कलदक्षिणादि दानै
र्नितरामादृतमानिता बभूवुः ॥ ४८ ॥

विनयावनतेन यज्ञकर्त्रा
नृनरेन्द्रादिसमस्त साधु वर्गः ।
सममानि यथोचितादराद्यै
र्मिलितो यः श्रुतियज्ञदर्शनार्थम् ॥ ४९ ॥

पवनः परिपावनः सुगन्धिः
क्रतुजन्योऽखिलराजपुत्रदेशे ।
प्रससार यशोभिरस्य साकं
क्षितिनाथस्य किशनगढेश्वरस्य ॥ ५० ॥

कतिचिन्नृपतीन् स यज्ञकर्त्ता-
ऽतियत्नेन निवासयाम्बभूव ।
विदधत्सुखदातिथेय पूजां
निज सत्सद्मनि कानिचिद्दिनानि ॥ ५१ ॥

अथ चैकदिने नृपालवर्गः
समवायेन सुधीन्द्रतल्लजानाम् ।
सहितः समुपस्थितो महर्षे-
श्चरणे प्रश्नमिमं व्यधत्त गूढम् ॥ ५२ ॥

अयि विश्ववरेण्यपूजिताङ्घ्रे !
शमनीयः किल संशयोऽस्मदीयः ।
कथमीश्वर सर्वगस्य विष्णो
रुदरेऽत्यन्त लघीयसि स्थितिः स्यात् ॥ ५३ ॥

यदि चैकशरीरवासपक्षो
जगदीशस्य समर्थितोऽस्ति वेदे ।
ध्रुवमेव समस्तवस्तुमध्ये
न भवेत्सिद्धिरहो तदस्तितायाः ॥ ५४ ॥

जगतो निखिलस्य चेशितुस्ते
विगतेच्छस्य परात्मनोऽन्तरङ्गे ।
विविधाः खलु वासनाविलासा
इह साधारणजीववत् कथं स्युः ॥ ५५ ॥

ननु कर्मविपाकतोऽविमृष्टो
भयशोकार्त्तिदमायया विमुक्तः ।
विभुरस्ति निराकृतिर्य ईशः
सकथं मायिक विग्रहं दधीत ॥ ५६ ॥

समयैरपि वस्तुभिश्चदेशै-
रपरिच्छिन्न इहेश्वरो यदि स्यात् ।
कथमस्य गतागतं प्रसिध्ये
दपरस्मादपिदेशतोऽन्यदेशे ॥ ५७ ॥

रहितस्य समस्तदुःखजालै-
रमितानन्दमयस्य चिद्घनस्य ।
किमिहास्ति निदानमस्य विष्णो-
र्नितरां दुःखमये शरीरवासे ॥ ५८ ॥

यदि दुष्ट दमोऽस्ति चात्रहेतु-
र्भुवना शातिविनाशधर्मरक्षे ।
निखिलं सुविधेयमीदृशं चा-
खिलशक्तेस्तु समीहयैव सिध्येत् ॥ ५९ ॥

अवतारकथेयमस्ति चित्रा
श्रुतिसिद्धा न, पुराणसम्मतेति ।
कथयन्ति विपश्चितो ह्यनेके
वद निश्चित्य यदस्ति सत्यमत्र ॥ ६० ॥

न वयं श्रुतितत्त्वविद्वरेण्या
न च पौराणिकसत्यमेव विद्मः ।
न निगूढतमेऽपि शास्त्रतत्त्वे
विनिविष्टा मतिरस्ति चास्मदीया ॥ ६१ ॥

सरलां सुखबोधयुक्तिरीतिं
सुगमं तर्कबलं च बालगम्यम् ।
अनुसृत्य भवान् दयापरो नो
हृदयस्थाखिलसंशयं छिनत्तु ॥ ६२ ॥

विनिशम्य वचः क्षितीश्वरीयं
स्मयमानो मधुरं यतीन्द्रमुख्यः ।
तिरयन् रदतेजसान्धकारान्
जितपीयूषरसामुवाच वाचम् ॥ ६३ ॥

शृणुतावहिता अये नरेन्द्रा
भवतां धर्मरतिः प्रशंसनीया ।
इह धार्मिक संशयापनोदे
रुचिरास्ते रुचिरानुभाग्यभाजाम् ॥ ६४ ॥

भुवि सर्वग एक एव देवः
प्रति रूपं भुवने बिभर्त्ति रूपं ।
वचनानि बहूनि सन्ति चेत्थं
श्रुतिसिद्धानि पुराणसम्मतानि ॥ ६५ ॥

श्रुतयः स्मृतयश्च दर्शनाद्या
भुवि गीतोपनिषत्पुराणविद्या ।
अपि भागवतं समस्तशास्त्रं
प्रति शृण्वन्ति परात्मनोऽवतारम् ॥ ६६ ॥

विबुधा विलसन्ति ये श्रुतिज्ञाः
स्मृतिशास्त्रेषु च सन्ति ये प्रवीणाः ।
निगमागमबोधवित्तमा ये
विचिकित्सन्ति नहीश्वरावतारे ॥ ६७ ॥

न च यूयमधीतिनः स्थ तेषां
भवतां स्वल्पतरोऽवबोध आस्ते ।
निगमैरपि चागमैः प्रशस्तं
वचनं वच्मि यदस्ति युक्तियुक्तम् ॥ ६८ ॥

कथनं यदिहास्ति युक्तिसिद्धं
विबुधस्तस्य समादरं विधत्ते ।
अपि वागधिपस्य तद् विरुद्धं
न हि मन्तव्यमिदं मतं प्रसिद्धम् ॥ ६९ ॥

भवदीयवचस्तु सत्यमेतद्
विभुरास्ते परमात्मनोऽस्य सत्ता ।
न हि सम्भवमेकतः परत्रा
गमनं व्यापकवस्तुनः कदाचित् ॥ ७० ॥

श्रुतिसम्मततर्कवादसिद्धो
भुवि सर्वत्र विलासिनो विकासः ।
न कथं त्रिगुणीश्वरोऽपि नित्यः
करुणाम्भोधिरयं विकासमीयात् ॥ ७१ ॥

भगवान् निखिलं हि वस्तुजातं
द्विगुणाष्टाभिरहो कलाभिरीशः ।
अचलोऽखिलगोऽश्नुते समग्रं
श्रुतितश्चेति च युक्तितोऽपि सिद्धम् ॥ ७२ ॥

क्रमशोऽपि च चित्कलाश्चतस्रः
परमेशस्य चतुर्विधे समस्ते ।
विकसन्ति सदैव भूतसंघे
श्रुतिविज्ञानमिदं न वो दुरापम् ॥ ७३ ॥

इह मानवविग्रहे चकास्ते
भगवत्पञ्चपचित्कलाविकासः ।
विहिता भुवने विभूतिभूता
नृषु सप्ताष्टकला लसन्ति येषु ॥ ७४ ॥

प्रचकास्ति च येषु वन्द्यहृत्सु
नवमीतो दशपञ्चसंख्यकानाम् ।
रुचिरः परिदृश्यते कलानां
सुविकासो गदिताः कलावताराः ॥ ७५ ॥

इम एव विपश्चिदग्रणण्यैः
कथिता अंशवतार नामतोऽपि ।
रसनाभिरसंख्यकाभिरेतान्
न हि संख्यातुमलं कदापि शेषः ॥ ७६ ॥

स्तुतषोडशचित्कलाविकासो
ननु जागर्त्ति परात्परस्य पुंसः ।
विबुधेन्द्रनुते यदीयकेन्द्रे
ह्यवतारस्तु सचैष पूर्ण आस्ते ॥ ७७ ॥

निगमागमसम्मतं मतं तद्
भगवान् कृष्ण इहैक एव पूर्णः ।
अपरे प्रतिपादितावताराः
दधते ते हि कलावतारसंज्ञाम् ॥ ७८ ॥

भरताग्रजरामचन्द्रदेवो
दिनकृद्वंश समुद्गतत्वहेतोः ।
कतिभिश्च न मन्यते सुधीभिः
परिपूर्णो जगदीश्वरावतारः ॥ ७९ ॥

प्रतिमाऽप्रतिमः समग्रया यः
क्रिययोपासनयाऽवबोधशक्त्या ।
विदधाति विधिं परं विचित्रं
स हि पूर्णोह्यवतार उक्त आस्ते ॥ ८० ॥

श्रुतियुक्ति समर्थितं मतं तत्
परिदृश्योऽखिलवस्तुगो हि वह्निः ।
यदि कुत्रचिदस्ति तद्विकासो
नहि तत्सर्वगतत्वबाधशङ्का ॥ ८१ ॥

भुवनेषु सदाप्युदीयमाना
अवतारा निखिलास्तु कर्मनिघ्नाः ।
अनुसृत्य समष्टिकर्मजातं
विभुरेषोऽवतरत्यवश्यमेव ॥ ८२ ॥

त्रिविधं किलकर्मरूपमास्ते
सहजं जैवमथापरं तदैशम् ।
त्रितयेन नियन्त्रितं समस्तं
भूवनं ह्यूर्ध्वमधः स्थितं विचित्रम् ॥ ८३ ॥

सहजाभिधकर्मणाश्रितेन
सुविमुक्तिं भजतेऽचिरेणलोकः ।
विविधेऽसदनन्तजन्मकेन्द्रे
बत जैवं तु गतागतं विधत्ते ॥ ८४ ॥

विधिमैशमथाश्रयन् मनुष्यः
क्रमशः स्रष्टृ सवैष्णवं च शैवम् ।
चरमाप्यपदं च सर्जनान्ते
परमां शान्तिमुपैति चित्समुद्रे ॥ ८५ ॥

न विधे रवतीर्णता कदापि
श्रुतिदृष्टा यदसावहेतुगर्भा ।
कमलापतिरीश्वरो ह्युमेशो
विदधाते समये निजावतारम् ॥ ८६ ॥

त्रिविधामिह मुक्तिमाश्रिता ये
सुरवन्द्याः परमात्मभक्तिपूताः ।
अवतारमिमेऽपि बिभ्रते ते
परमेशस्य विधिं विधित्सवश्च ॥ ८७ ॥

ऋषयः पितरश्च निर्जराश्च
त्रय एते परमेशशक्तियुक्ताः ।
त्रिविधेषु च कर्मसु प्रसक्ताः
जगतां ते परिचालयन्ति कृत्यम् ॥ ८८ ॥

ऋषयः परिचालयन्ति बोधं
य इहाध्यात्मतया प्रसिद्ध आस्ते ।
पितरस्त्वधिभूत वस्तुजातं
त्रिदशाश्चाप्यधिदैव कर्मवर्गम् ॥ ८९ ॥

ऋषयः परिरक्षितावबोधाः
पितरोऽवन्त्यधिभूतशुद्धिमेनाम् ।
त्रिदशा जनकर्मरक्षकाः स्यु-
स्त्रितयी संविदधाति लोककार्यम् ॥ ९० ॥

ऋषयोऽवतरन्ति बोधहेतौ
त्रिदशाः कर्मकलापरक्षणाय ।
पितरोऽवतरन्ति नैव लोके
कृतिमाविश्य पितॄन् प्रकुर्वते स्वाम् ॥ ९१ ॥

ऋषिनायक ईश्वरो महेशो
विधिरास्तेऽपि च नायकः पितॄणाम् ।
हरिरस्तिमतः सुपर्वनेता
त्रय एते परिचालयन्ति लोकान् ॥ ९२ ॥

अजजाततनूज-यादवाद्याः
श्रुतिसिद्धा जगदीश्वरस्य विष्णोः ।
अवतारतया प्रसिद्धिमाप्ता
अपि च व्यासमुखामहाऋषीणाम् ॥ ९३ ॥

अथधर्मसुतादयोऽमरांशा
नृपदुर्योधन कंसरावणाद्याः ।
दनुजेन्द्र विभूतिसम्भवास्ते
भुवनेऽशान्तिविधानतत्परा ये ॥ ९४ ॥

त्रिविधं परिगीयतेऽत्र पिण्डं
सहजं मानवमद्भुतं च दैवम् ।
अधिगत्य सदैव विष्णुरीशो-
ऽवतरत्येष करोति लोकरक्षाम् ॥ ९५ ॥

सुविमत्स्यककूर्मशूकराद्याः
सहजं पिण्डमवाप्य सम्भवन्ति ।
अवलम्ब्य च मानवं हि पिण्डं
विलसन्त्यत्र तु रामकृष्णबुद्धाः ॥ ९६ ॥

हयमस्तकनारहिंसमुख्याः
शुभमाश्रित्य च दैविकं हि पिण्डम् ।
निजभक्तजनार्त्तिभञ्जनार्थं
दलितुं दानववर्गमाविरासुः ॥ ९७ ॥

भगवानखिलेषु विग्रहेषु
ह्यवतीर्णो भवतीश्वरः परात्मा ।
ऋषयोऽथ सुरासुराश्च सर्वे-
ऽवतरन्त्याश्रितमानवीयदेहाः ॥ ९८ ॥

नवपञ्चसु भूतलेषु वासा
ऋषिसंघस्य समादृताः सुधीभिः ।
इतरे पितरः सुरासुरा वा
निजनिर्धारितभूषु संवसन्ति ॥ ९९ ॥

अतएव महर्षि संघनेता
सकलैरेव सुरासुरैर्नमस्यः ।
न तथा कमलासनश्च विष्णुः
सुसमर्थावपि नैव विश्ववन्द्यौ ॥ १०० ॥

अथवैष सदा त्रिदेवमध्ये
महितो ज्ञाननिधिर्महेश्वरो वै ।
तमतः प्रतिपद्य सर्वलोकाः
शिवमज्ञानविनाशमाद्रियन्ते ॥ १०१ ॥

ऋषयो निगमागमावबोधं
प्रकटीकर्तुमवातरन्ति पूर्णे ।
भरतस्य पवित्रभूमिभागे
न हि तद्भिन्नभुवि श्रुतेः प्रकाशः ॥ १०२ ॥

इह भौतिकतत्त्वहेतुभूतं
भुवि विज्ञानमतं समस्तमेव ।
प्रकटीक्रियतेऽवतीर्य लोके
विधिरार्षः परिचिन्तनीय एषः ॥ १०३ ॥

ऋषयस्त्रिदशाश्च दानवाश्च
निखिले मर्त्यनिवासभूतलेऽस्मिन् ।
अवतारमनेकमद्भुतं यं
दधते नित्यमहो न तस्य संख्या ॥ १०४ ॥

अवनं किल कर्म देवमूलं
हननं तद्भुवि दानवीयमास्ते ।
अपि बोधसमुद्भवं च सर्वं
परिवेद्यं निखिलै र्भवेऽत्रचार्षम् ॥ १०५ ॥

परमात्ममहर्षिदेवदैत्या
विविधं यं यमुपायमाश्रयन्तः ।
भुवनेऽवतरन्त्यहर्निशं त-
न्नहि संख्यातुमहीश्वरोऽपिशक्तः ॥ १०६ ॥

अवतारवपुर्धराः समस्ता
ध्रुवमुच्चावचजीवकेन्द्रमेव ।
निजकर्म सुसाधनानुकूलं
दृढमाश्रित्य समुद्भवन्ति नित्यम् ॥ १०७ ॥

आकर्ण्यतर्कमहितां श्रुतियुक्तियुक्ताम्
कर्णामृतोपमसुखप्रदवाचमेनाम् ।
राज्ञां सतां च सुधियां विनतैः शिरोभिः
बालांशुभास्कर इवैष यतिर्विरेजे ॥ १०८ ॥

इति कविवर्य-विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्रिविरचिते महर्षि श्री ज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये द्वादशः सर्गः ॥



॥ अथ त्रयोदशः सर्गः ॥

क्रतोर्विधात्रा मनुजाधिपेन
विसर्जितास्ते सुधियोनरेन्द्राः ।
प्रतस्थिरे सत्कृत सुप्रसन्नाः
ग्रामांश्च नैजानपि पत्तनानि ॥ १ ॥

महीश्वरेणैष यतीश्वरोऽपि
प्रसादितः स्वापचितिक्रियाभिः ।
तत्रैव काँश्चिद्दिवसानुषित्वा
व्यजिज्ञपत् तं नृपतिं प्रयातुम् ॥ २ ॥

महर्षिवर्य्यस्य वियोगवार्त्तां
किशन् गढस्याधिपतिर्निशम्य ।
सहात्मवर्गैर्विकलेन्द्रियः सन्
असह्य शोकाम्बुनिधौ ममज्ज ॥ ३ ॥

सपर्ययाभिर्विविधाभिरन्तः
पुरस्थितै स्तैर्ललनाललामैः ।
प्रसादमाप्तोऽम्बुजपत्रवत् सो-
ऽम्भसा सुनिर्लिप्त इवावतस्थे ॥ ४ ॥

राजन्यमूर्धन्यशिरोविराजित-
किरीट संयुक्तमणि प्रभाभिः ।
सदैवनीराजित पाद पद्मः
सर्वाणि शर्माणि तृणायमेने ॥ ५ ॥

वाष्पाकुलं राजकुलं समस्तं
वियोगजाशाति सुसंकुलं च ।
विहाय योगी वत निस्पृहोऽयं
श्रीकृष्णभूमिं मथुरां प्रतस्थे ॥ ६ ॥

सद्रत्नराशिं गुरुदक्षिणायां
महाग्रहस्वाग्रहिलेन राज्ञा ।
समर्पितं दीनविपन्न नृभ्यो
यतीश्वरः संवितताार सर्वम् ॥ ७ ॥

स्तुतो मुनीन्द्रैर्मथुरा मुपेतः
स्व शिष्यवृन्दैर्विबुधैः समेतः ।
स मण्डली तां निगमागमाख्या-
मस्थापिपद्धर्मधुरोद्धरिष्णुः ॥ ८ ॥

प्रसिद्ध सुश्रेष्ठि विशालसौधे
कार्यालयोऽभून्मथुरा स्थितोऽस्याः ।
संस्थापितोऽभ्युष्य तमेष योगी
कार्याणि संचालयितुं प्रवृत्तः ॥ ९ ॥

प्रारम्भिकेऽस्याः समये समस्त-
व्यापारसञ्चालन सक्त चित्ताः ।
सन्ति स्म विद्याचण साधवो हि
विराग भाजः सुविगीत वित्ताः ॥ १० ॥

धर्मस्य चैतस्य सनातनस्य
कलावुपेक्षां गमितस्य नित्यम् ।
पुनः समुद्धार-विवेक-विद्या-
विस्तार-गीर्वाणगवी प्रचाराः ॥ ११ ॥

धर्मात्मभू-भारतभूमिभाग-
संस्थापितानां परिषत्सभानाम् ।
स्वधर्मसेवैक परायणानां
संग्रन्थनार्थं च नियन्त्रणार्थम् ॥ १२ ॥

महासभाया निजधर्मजाति-
सेवा विधात्र्या विविधैः प्रकारैः ।
संस्थापनं चेति बहूनि तस्या
उद्देश्यजातानि सुनिश्चितानि ॥ १३ ॥

त्रिकालदर्शी स यतिर्महर्षि-
र्हिन्दी भवेद् भारत राष्ट्रभाषा ।
इत्यन्तरङ्गे सुविचिन्त्य तस्यां
प्रकाशिताः पुस्तक पुस्तिकाश्च ॥ १४ ॥

कौमोददात्री निगमागमानां
प्रचारिका तन्मुखपत्रिका च ।
अन्वर्थनाम्नी गिरिचन्द्रिकाऽस्यां
प्राकाश्यतोद्देश सुसिद्धयेऽस्याः ॥ १५ ॥

वसूनि हित्वा न विधेयसिद्धिः
सर्वाः क्रियाः काञ्चनमाश्रयन्ते ।
अतो यतिः संग्रहणे वसूनां
संव्यापृतोऽभूत् किल निःस्पृहोऽपि ॥ १६ ॥

अर्थो महानर्थ निदानभूता
यतिः पतेत् काञ्चन संग्रहेण ।
असन्ति कार्याण्यपि भावशुद्धया
सद्धर्मरूपाणि भजन्ति किन्तु ॥ १७ ॥

तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः
स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः ।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्क-
स्तान्येव भावोपहतानि कल्कः ॥ १८ ॥

असाधुलोकादिह योऽर्थजात-
मादाय संयच्छति साधवे च ।
प्लवं विधायात्म वपुः प्रकृष्टं
संतारयत्येष भवाम्बुधिं द्वौ ॥ १९ ॥

प्रशस्तमाप्तं स्मृति शास्त्रसिद्धं
सिद्धान्तमेनं हृदि संविभाव्य ।
त्यक्तैषणो धर्मधुरां स वोढुं
वस्तूनि हेयानि न, निश्चिकाय ॥ २० ॥

संग्रन्थनं सर्वविधं स्वजातेः
स्वधर्म सेवा निजदेश रक्षा ।
श्रेयोविधिर्जीवततेः, क्रियाऽन्या
धनादृते नैव कदापि सिध्येत् ॥ २१ ॥

कृतिर्न काचिद् भुवनेषु हेयो-
पादेयतां गच्छति वा सदैव ।
भावानुसारेण नृसाध्यमाना
बोभूयतेऽसावशुभा शुभा च ॥ २२ ॥

इत्यादि सर्वं सुविमृश्य चित्ते
यतीश्वरो धर्मधुरन्धरोऽयम् ।
धर्मं समुद्धर्तुमना मनस्वी
चयं धनस्योचितमेव मेने ॥ २३ ॥

शश्वज्जगत् संस्कृति शङ्कराभ्यां
स्प्रक्ष्यामि नैवेह धनं कराभ्याम् ।
इति प्रतिश्रुत्य ततो यतीन्द्रो
मनो दधे संग्रहणे वसूनाम् ॥ २४ ॥

अस्मिन् महामाङ्गलिके विधेये
विश्राणनं सर्वत एव पूर्वम् ।
किशन्गढेशो नृपतिर्धनानां
पत्या यतीनां विदधे निदिष्टः ॥ २५ ॥

अत्राद्भुते शाश्वतधर्मरक्षा-
वैधानिके सर्वजनीन पुण्ये ।
स्वदानपत्रं यति पाद पद्मे
समर्पयामास नृपो लिखित्वा ॥ २६ ॥

तपस्यतो योऽर्बुद पर्वतस्य
शृङ्गे महर्षेरुपढौकमानः ।
ददर्श रम्यं चरणाम्बुजातं
न्यमन्त्रयत् शाहपुरेश्वरोऽपि ॥ २७ ॥

आमन्त्रणं भक्तिसुधारसार्द्रं
मुनीश्वरः शाहपुराधिपस्य ।
संव्यापृतोऽनेकविधेऽपिकार्ये
नासौ परित्यक्तुमभूत्समर्थः ॥ २८ ॥

अभ्यर्थितः सन् विनयेन राज्ञा
महर्षिवर्योऽखिलभक्तिबद्धः ।
सद्भक्तिमत्प्रेषित राजलोकैः
समन्वितः शाहपुरं प्रतस्थे ॥ २९ ॥

स सर्वगः सर्वजगत्पतिश्चेत्
सत्प्रेमपाशेन निबद्धमूर्त्तिः ।
समागतो भूमितले ततोऽस्य
निवृत्ततर्षस्य कथैव काऽऽस्ते ॥ ३० ॥

संपश्यतस्तत्सरसीरुहाङ्घ्रि-
द्वयं महर्षेर्मनुजाधिपस्य ।
आनन्दपूरो ववृधे निशायाः
पतिं पयोधेरिव संप्रवृद्धम् ॥ ३१ ॥

नाना विधानां व्रततीततीनां
संख्यातिगानां क्षुभसन्ततीनाम् ।
मयूरहंसादि निषेवितानां
मध्यस्थिते सुन्दर शाद्वलानाम् ॥ ३२ ॥

सुधा विलिप्ते निजराजसौधे
प्रशस्तसर्वर्तु सुखाकरे च ।
यतीश्वरं तं महताऽऽदरेण
न्यवासयत् शाहपुराधिनाथः ॥ ३३ ॥

सत्पाटलाम्भोजनियूथिकादि-
सौरभ्यमादाय शनैश्चरिष्णुः ।
वायुर्हि यत्र स्थित राजदारा-
ऽऽननोत्थवातैर्न तुलां बिभर्त्ति ॥ ३४ ॥

यत्र स्थितानां ललनाजनानां
विकस्वरैः प्राकृतिकैः स्वरैश्च ।
न्यक्कारमाप्ताः किल कोकिला हि
कूजन्ति दीप्ता इव खर्वगर्वाः ॥ ३५ ॥

यत्र स्थितानां नृपकन्यकानां
प्रफुल्ल पुष्पाचित केशपाशैः ।
विचित्रिताश्चापि विभोः प्रकृत्या
तिरस्कृतिं विभ्रति वर्हिबर्हाः ॥ ३६ ॥

राजस्त्रियां नृत्यविलासलीलां
सं शिक्षितुं हर्म्यमुपाश्रितास्ते ।
पुनस्तदभ्यस्तुमिमे मयूरा
नृत्यन्ति यत्रोपवनेषु नित्यम् ॥ ३७ ॥

सुखप्रदैः सुन्दर वस्तुजातैः
सुसज्जितं हर्म्यं मिदं नृपस्य ।
समृद्धिमन्नन्दनकाननस्थं
सुरेन्द्रसौधं हसतीव चित्रम् ॥ ३८ ॥

न्यक्कुर्वते ये स्वसुखानि सन्तः
स्वजीवनं धर्मकृतेऽर्पयन्तः ।
तेषां पवित्रेषु पदाम्बुजेषु
वसन्ति सर्वाः सुखसम्पदो हि ॥ ३९ ॥

वेदान्त विद्याश्रयराजयोगी
यो जीवितो मुक्त इह स्थितोऽस्ति ।
धन्यं समस्तं भुवनं च येन
संगन्तुमिच्छन्ति सुखानि तेन ॥ ४० ॥

सदा सदारैः सहितो नृपेन्द्रो
यतीन्द्रसेवार्पित जीवनः सन् ।
सुदुर्लभै वंस्तुभिरन्वहं तै-
र्नवैर्नवैस्तं हि यतिं सिषेवे ॥ ४१ ॥

महात्मनां जीवनमुक्तिभाजां
विनिन्दका ये परितोषकाश्च ।
दुष्कर्म सत्कर्म भुवि क्रमेण
गृह्णन्ति शास्त्रेष्विति निर्णयोऽस्ति ॥ ४२ ॥

सच्छास्त्रमर्मज्ञवरो नरेन्द्रो
ज्ञात्वेति योगिप्रवरस्य सेवाम् ।
अनारतं संविदधे प्रसन्नः
सहात्मवर्गैं विनयान्वितः सन् ॥ ४३ ॥

सायन्तने शाद्वल संनिविष्टाः
शिष्टा स्वदारैः सह सम्प्रहृष्टाः ।
पौराः समं शाहपुराधिपेन
धर्मोपदेशं मुनिपुङ्गवस्य ॥ ४४ ॥

सुवर्ण सिंहासनमास्थितस्य
महार्हरत्नैः खचितं विचित्रैः ।
कर्णामृतं ध्वस्तसमस्तपापं
निपीय नित्यं परितोषमापुः ॥ ४५ ॥

एवं व्यतीतेषु बहुष्वहस्सु
यतेरियं कर्णपरम्पराभिः ।
प्रवृत्तिरश्रावि शुभोदयस्य
पुरस्य वीरेन्द्र महारणेन ॥ ४६ ॥

श्रीराजराजेन्द्र महारणोऽसौ
तस्योदयाख्यस्य पुरस्यनाथः ।
श्रीसूर्यवंशे सुगृहीतजन्मा
सन्मानभाग् यः पृथिवीपतीनाम् ॥ ४७ ॥

वीराग्रणी धर्मधुरन्धरः श्री-
फतेहसिंहाभिधराजसिंहः ।
सिंहोरुसत्त्वोऽति दयार्द्रचेताः
प्रसिद्धचित्तौरगढस्य शास्ता ॥ ४८ ॥

पौरस्त्य पाश्चात्यसमस्तविद्या-
केन्द्रस्य चात्यन्त विशालमूर्तेः ।
आर्याख्यजाते भुविगौरवस्य
देवापगापूततटे स्थितस्य ॥ ४९ ॥

सहस्रशः सौधविराजितस्य
ह्यवर्णनीयस्य च सत्कवीन्द्रैः ।
श्री विश्वविद्यालय नामधेय
संस्थानकस्या प्रतिमस्यलोके ॥ ५० ॥

संस्थापको भूतहितेरतश्च
बुधो भरद्वाजकुलावतंसः ।
यो मोहनोऽभून्मदनस्य नाम्ना
महर्षिवर्य्यो भुवनेषु वन्द्यः ॥ ५१ ॥

वाराणसेयस्य च हिन्दु विश्व-
विद्यालयस्या ह्यतमध्यभागे ।
संस्थापयिष्यन् प्रभुमाशुतोषं
श्री विश्वनाथं जगदेकवन्द्यम् ॥ ५२ ॥

चिकीर्ष्यमाणस्य महाद्भुतस्य
सन्मन्दिरस्या प्रतिमस्य तस्य ।
शुभं शिलान्यासविधिं विधित्सु-
र्निमन्त्रयामास महारणं यम् ॥ ५३ ॥

राजर्षिवर्य्यस्य नृपैन्तुतस्य
यस्यानुपस्थानतया सुधीन्द्रः ।
चेखिद्यमानो मुनिमालवीयः
सदात्मना न्यासविधिं चकार ॥ ५४ ॥

कुले यदीये जनिमाप्नुवन्तः
सहस्रशः संगरसुप्रसिद्धाः ।
दुर्धर्ष-शत्रुञ्जय-वीरसाङ्गा-
कुम्भादयः ख्यातकथा बभूवुः ॥ ५५ ॥

विख्यात चित्तौर गढस्य रक्षा-
मतीतसंख्याः सुविधातुकामाः ।
ऊर्ज्जस्वलक्षत्रियपुङ्गवास्ते
सम्मेनिरेऽसून् युधि वै तृणाय ॥ ५६ ॥

वंशेऽद्भुते यस्य जनुर्गृहीत्वा
च्छित्वा सपत्नार्बुदमस्तकानि ।
कबन्धशेषा अपि संनिपात्य
शतं, निपेतुर्भुवि संगरस्थाः ॥ ५७ ॥

चित्तौर दुर्गप्रसरे ह्यधःस्थे-
स्थित द्विषत्कोटिबलानि येषाम् ।
प्रहार विध्वस्त वपूंष्यनेका-
नब्दान् सुसंत्रस्तमनांसि तस्थुः ॥ ५८ ॥

गोरा तथा बादल इत्यनेके
कुश्चालकाः कोमलबालकाश्च ।
प्रचक्रिरे यत् तदतीतवृत्त-
विपश्चितोऽद्यापि न विस्मरन्ति ॥ ५९ ॥

चित्तौर दुर्गस्य दुराश्मूर्ते-
लंसत्सु वै सप्तसु तोरणेषु ।
हत्वा सहस्राणि च ये रिपूणां
तेषु स्थिता वीरगतिं प्रपन्नाः ॥ ६० ॥

एतादृशां क्षत्रियपुङ्गवानां
भटोद्भटानां बहुसंख्यकानाम् ।
अञ्चन्ति रोमाणि भृशं नराणां
ग्रावाङ्कित स्मारकदर्शनेन ॥ ६१ ॥

यद्वंशजाः श्री जयमल्लकल्ला-
फत्तादयोऽनेक सहस्रवीराः ।
शिरांसि हुत्वा समराग्निवेद्यां
स्वतन्त्रतां जन्मभुवो ररक्षुः ॥ ६२ ॥

यद्वंशजाता रणरङ्गधीरा
वीराग्रगण्या युधि चैकरात्रो ।
क्रमान्मृता द्वादश भूमिपाला
राजेन्द्र सिंहासन मध्यवास्तुः ॥ ६३ ॥

किं ब्रूमहे हन्त महारणस्य
प्रताप वीरस्य च वीरतायाः ।
गाथां सदैतिह्यविदो विदन्ति
वदन्ति चाद्यापि किरातबालाः ॥ ६४ ॥

अटाट्यमानेषु वनान्तरेषु
क्षुद्व्याधिभिः कम्पितविग्रहेषु ।
अत्तुं प्रवृत्तेषु यदात्मजेषु
निन्युर्बिडालास्तृणरोटिकास्ताः ॥ ६५ ॥

एतादृशीं　　　कष्टदशामनेकां
　　　　प्रपद्यमानोऽपि मनाङ्मनस्वी ।
धैर्यं न तत्याज ररक्ष नैजां
　　　　स्वाधीनतां यत्कुलजः प्रतापः ॥ ६६ ॥

कुलस्त्रियो यस्य नृपस्य सत्यः
　　　　सत्यं बभूवुः किल वीरपत्न्यः ।
मृतिं समाकर्ण्य च याः पतीनां
　　　　प्रतस्थिरे　स्वर्ज्वलिताश्रितासु ॥ ६७ ॥

यदीयभूमावपि　　　वासशीला
　　　　भिल्ला अरण्येषु सदाचरन्तः ।
ते　चेतकाद्याः पशवोऽपि वन्द्या
　　　　ये चक्रिरे वीर कृतीरनेकाः ॥ ६८ ॥

निष्पक्ष　पाताङ्ग्लकविश्च टाडो
　　　　यत्पूर्वजानां विलिलेख गाथाम् ।
अधीत्य　तां　विस्मयमावहन्तो
　　　　वैदेशिकाश्चापि भवन्ति मुग्धाः ॥ ६९ ॥

एवं　विधे　वीरवरेन्द्रवंशे
　　　　गृहीतजन्मा दिननाथ दीप्तिः ।
यशस्विनां　यो　धुरिकीर्त्तनीयो
　　　　महारणो वीर फतेह सिंहः ॥ ७० ॥

प्रकृष्ट　पाण्डित्यमनन्त　बोधं
　　　　योगाङ्ग विज्ञान निधिं महर्षिम् ।
अलौकिक　ज्ञान वरं यतीन्द्र-
　　　　मध्यात्म मार्गैक गुरुं प्रसिद्धम् ॥ ७१ ॥

सुधीन्द्रसेव्यं प्रसरत्प्रभावम्
आनेतुकामो निजराजधानीम् ।
परं प्रसन्नः परमादरेण
प्रस्थापयामास विशिष्टलोकान् ॥ ७२ ॥

विप्रर्षिवर्य्योऽय- मनन्तकीर्त्तेः
राजर्षिवर्य्यस्य निमन्त्रणं तत् ।
विनीत तत्प्रेषित पौरमुख्य-
मुखोद्गतं स्वीकृतवान् प्रसह्य ॥ ७३ ॥

तस्योदयाख्यस्य पुरस्य शाह-
पुरं शुभं सन्निकटे चकास्ति ।
आनन्द संवर्धन रम्ययान-
मारुह्य संयातु मियेष योगी ॥ ७४ ॥

प्रस्थानकाले मुनि पुङ्गवस्य
स पौरमुख्यः सह पुत्रदारैः ।
राजा च सर्वे रुरुदुः सशोका-
स्ते प्राणिनः स्थावरजङ्गमाश्च ॥ ७५ ॥

आशीर्भिरभ्यर्च्य समस्त लोकान्
कृत्वा विशोकान् प्रणतान् सशोकान् ।
पुनः पुनः स्वागमवार्तया तान्
प्रातिष्ठताऽयं ह्युदयाख्यपुर्याम् ॥ ७६ ॥

प्रताप वीरस्य पितोदयाख्यः
सिंहो ह्यभूत् तस्य समाह्वयेन ।
निवासितं तत्पुर मित्यदोऽस्ति
नाम्नोदयाख्यं पुरमृद्धिशालि ॥ ७७ ॥

पुरं तदासादितवान् महर्षि-
यंदा तदैवास्य निवासहेतोः ।
निकेतनं सर्वसुखैः सुजुष्टम्
अभून्निदिष्टं हि महारणेन ॥ ७८ ॥

तत्र स्थितोऽनेकविधाभिरेष
सेवा-सपर्याभिरहर्निशं हि ।
समर्चितः सेवनविद्वरेण्यै
र्मोमुद्यमानो न्यवसद् यतीन्द्रः ॥ ७९ ॥

अथैकदा श्रीलमहारणोऽसौ
फतेहसिंहो नृपमण्डलेशः ।
मुनीन्द्र - संदर्शन - लालसः स-
स्तं राजसौधं निजमाजुहाव ॥ ८० ॥

आरुह्य रम्यां शिविकां मुनीन्द्रः
सुसज्जमासादितवान् प्रकोष्ठम् ।
शुभासनं माण्डलिकैः सदस्यैः
संग्राहितोऽभूत् स महारणस्य ॥ ८१ ॥

पप्रच्छ नैनं स्वकुलाभिमानी
सदस्यमेकं निजमित्यवोचत् ।
त्वं पृच्छ—"साधो ! क तवास्ति धाम"
तदाज्ञयाऽसावकरोत् तथैव ॥ ८२ ॥

नृपस्य तस्य व्यवहारमेतं
दृष्ट्वा यतीन्द्रः प्रससाद नान्तः ।
उत्थाय नैजासनतस्तदैव
प्राहस्म तेजस्विवरो नृपालम् ॥ ८३ ॥

दृष्टो भवांस्ते परिषच्च दृष्टा
स्वं धाम गच्छामि महारणाद्य ।
उक्त्वेति वाचं नृवरं महर्षि-
र्निवर्त्तितोऽभून्निजवाससद्म ॥ ८४ ॥

तेजस्वितां चाप्यतिनिःस्पृहत्वं
तद्देशिकेन्द्रस्य निरीक्ष्य भूपः ।
प्रभावितः सन् परितापमाप्त-
स्तद्दर्शनार्थी प्रबभूव भूयः ॥ ८५ ॥

प्रस्थातुमिच्छुं निजराजधान्या
यतीन्द्रमेनं हि महारणोऽसौ ।
संम्प्रेष्य तूर्णं स्ववरान् सदस्यान्
न्यवारयत्तं सुविनीतभावः ॥ ८६ ॥

अन्येद्युरेतस्य यतीश्वरस्य
संदर्शनेच्छुर्जनताधिनाथः ।
पुनस्तथैनं शिविकाधिरूढं
समाह्वयत् तत्र निजप्रकोष्ठे ॥ ८७ ॥

एकाकिनं तं विनयान्वितं च
सन्तापिनं पूर्वकृतापराधे ।
आशीर्भिरानर्च यतिः क्षितीन्द्रं
भवन्ति सन्तो हि दयार्द्रचित्ताः ॥ ८८ ॥

महारणस्यास्य महाग्रहेण
सद्भक्ति - पूर्ण - व्यवहारकेण ।
मासा अनेके त्वरया महर्षे-
र्व्यंसिषुः संवसतश्च तत्र ॥ ८९ ॥

स हिन्दुसूर्योऽनुदिनं महीन्द्रो
यतीन्द्रपादाम्बुजभृङ्गराजः ।
अभूत्प्रसन्नः परलोक-कर्म-
योगादि-विज्ञान-रसं निपीय ॥ ९० ॥

अथैकदा भूपफतेहसिंहो
महर्षिमेनं विनयान्वितः सन् ।
उवाच वाचं भवता मुनीन्द्र !
द्रष्टव्य मत्रत्यमुदृश्यजातम् ॥ ९१ ॥

महाराणाभ्यर्थित सद्वचोऽसौ
स्वीकृत्य तत्रत्यविचित्रदृश्यम् ।
व्यलोकयत् तत् किल निम्नभागे
व्याख्यायते विज्ञ-विनोदहेतोः ॥ ९२ ॥

चित्तौरदुर्गादुदयाख्यमेतत्
पुरं प्रतापेन निवासितं तत् ।
प्रायेण दिग्योजनदूरवर्त्ति
संराजते यत्र फतेहसिंहः ॥ ९३ ॥

पुरस्य चैतस्य विचित्रसिंह-
द्वारस्य मध्ये नितरां मनोज्ञे ।
कुलस्य देवस्य विवस्वतो वै
मूर्त्तिर्विचित्रा किल चित्रिताऽऽस्ते ॥ ९४ ॥

तस्या अधस्ताल्लिखितं विभाति
वाक्यं शुभं चेति महत्त्वपूर्णम् ।
"धर्मं च यो रक्षति तस्य रक्षां
करोति नूनं परमात्मशक्तिः" ॥ ९५ ॥

दक्षे प्रतापस्य महारणस्य
चित्रं विचित्रं सुविलालसीति ।
वामे च कौपीनमयूरपिच्छ-
धारी किराताधिपतिश्चकास्ति ॥ ९६ ॥

प्राचुर्यमस्तीह जलाशयानां
सन्त्येषु मुख्या भुवि दर्शनीयाः ।
जयाम्बुधिः, शैलधरः, पिचोला-
फतेह-राजोदय-सागराश्च ॥ ९७ ॥

जयाम्बुधेः सत्परिधिस्तु षष्टि-
क्रोशात्मकः, तस्य पयस्स्वनेके ।
खण्डा गिरीणां विलसन्ति, येषु
ग्रामाः शतं, तेषु वसन्ति भिल्लाः ॥ ९८ ॥

जयाम्बुधावत्र नवाऽनवद्या
नद्यः, शतं चोपनदा मिलन्ति ।
एतादृशो हन्त महाह्रदोऽत्र
भूमण्डले नैव निभाल्यतेऽद्य ॥ ९९ ॥

लसत्पिचोला - ह्रदनीरतीर-
वानीर - कुञ्जेष्वलि - गुञ्जितेषु ।
अभ्रंकषा सौधततिर्विचित्रा
मुग्धीचरीकर्त्ति जगन्मनांसि ॥ ११० ॥

तीरे यदीये शिव-शम्भु-रुद्र-
प्रासादवर्गा विलसन्ति शुभ्राः ।
शस्त्रालयः, संग्रहसद्म, रम्य-
ग्रन्थालयश्चापि चकासतेऽत्र ॥ १०१ ॥

गुलाब - बागेति सुनामधेयं
　　सुदीर्घमुद्यानमिदं विचित्रम् ।
सिञ्चन्ति यन्त्रेण पयोधरस्थै-
　　र्घटैः शिलानिर्मितवारवध्वः ॥ १०२ ॥

मध्येजलं पेयपयः पिचोला-
　　सरोवरस्याद्भुतमन्दिराणि ।
उद्यानवद्भूमि समन्वितानि
　　बहूनि राजन्ति लताश्रितानि ॥ १०३ ॥

एषां जगन्मन्दिरनाम्नि सौधे-
　　ऽवरङ्गजेबस्य वरेण्यतातम् ।
मेवाड़राज्याधिपतिस्तदानीं
　　नृपं जहाँगीरमहो स्वरक्षीत् ॥ १०४ ॥

फतेहनाम्नोऽपि च सागरस्य
　　तटस्थितानामपि भूधराणाम् ।
उपर्यमी नीमच-मातृ-सौधाः
　　लसन्ति ये दुर्गमदर्शनीयाः ॥ १०५ ॥

दुर्धर्ष - तत्सागर - पूर्वभागे
　　ह्युद्यानमास्ते रुचिरं सखीनाम् ।
मनोज्ञसर्वर्त्तुसुखाकरं तद्
　　विचित्रितं शिल्पकलास्वभिज्ञैः ॥ १०६ ॥

अत्रत्य - सद्गुल्म - लता - सुमानां
　　मनोहराणां विविधद्रुमाणाम् ।
संसार - पान्थाक्षिकलाप - चौरा
　　राजन्ति चित्राः शुभसन्निवेशाः ॥ १०७ ॥

संविश्रुते श्रावण-भाद्रनाम्ना
कला - प्रपूर्णाद्भुतवारियन्त्रे ।
सञ्चालनादेव ययोर्मनुष्यै-
र्वर्षं तु मोदः स्वनुभूयतेऽत्र ॥ १०८ ॥

फतेहसत्सागरतो वरेण्य-
सम्बन्धसत्वादुभयोः सदैव ।
सञ्चालने नास्ति च काऽपि बाधा
साधारणी कालकृता कदाचित् ॥ १०९ ॥

सहस्रशः प्रस्तरनिर्मिताना-
मनन्त - पक्षीन्द्र - महाद्विपानाम् ।
बम्भ्रम्यमाणैः किलचञ्चुशुण्डै-
र्यन्त्राश्रितैस्तैः क्रियते ऽम्बुवृष्टिः ॥ ११० ॥

कृत्यं च यन्त्रायनिकं, कवीनां
न लेखनी कर्त्तुमहो समर्था ।
अतो विलोक्यं स्वयमेव विज्ञै-
स्तत्रत्यमत्यद्भुतदृश्यजातम् ॥ १११ ॥

समस्त - लोकातिग - मेदपाट-
राज्यव्यवस्था क्रियते मिलित्वा ।
सामन्तकाः षोडश ते प्रधाना
द्वात्रिंशदन्येऽपि भवन्ति गौणाः ॥ ११२ ॥

तेषामधीनोऽस्ति महारणोऽसा-
वादेशसंपालयिता विनीतः ।
तैरेव सम्मिल्य हि मेदपाट-
नृपाय सिंहासनमर्पयन्ति ॥ ११३ ॥

श्रीद्वारकेशस्य　　　महाद्युतेश्च
　　श्रीनाथदेवस्य　　वरर्षभस्य ।
विख्यातकीर्त्तेर्　　जगदीश्वरस्य
　　तस्यैकलिङ्गस्य च मन्दिराणि ॥ ११४ ॥

अनन्यसाधारणतां　　　श्रयन्ति
　　प्रधानभूतानि　लसन्ति　राज्ये ।
महारणस्येह　　च　　मेदपाटे
　　तद्भिन्नदेवायतनं　ह्यसंख्यम् ॥ ११५ ॥

स　चैकलिङ्गो　भगवान्　प्रगीतः
　　श्रीमेदपाटाधिपतिर्वरेण्यः ।
महारणाद्याः　सकला　नृपालाः
　　सामन्तकाः सन्ति तदीयभृत्याः ॥ ११६ ॥

श्रीद्वारकाधीशसुमन्दिरं　　त-
　　च्छ्रीवल्लभाचार्य - सुपुत्रपौत्रैः ।
निर्मापितं　यस्य　च　रागभोग-
　　व्यवस्थितिः सा स्तवनीयरूपा ॥ ११७ ॥

सुमन्दिरं　　तज्जगदीश्वरस्य
　　श्रीमान् जगत्सिंहमहारणोऽसौ ।
व्यरीरचत्　सप्तदशे　शताब्दे
　　द्विकोटिमुद्रा　व्ययितास्तदाऽत्र ॥ ११८ ॥

विशालमेतादृशमन्दिरं　　हि
　　सुदुर्लभं　　भारतखण्डमध्ये ।
अत्रत्यमभ्यर्हित　-　कारुकार्यं
　　विस्मापयत्येव　विदेशपान्थान् ॥ ११९ ॥

सन्मन्दिरेऽस्मिन् प्रभुभक्तमीरा-
महोदयायाः प्रणयीष्टदेवः ।
वंशीधरो राधिकया समेतो
विराजते दर्शकचित्तचौरः ॥ १२० ॥

अद्यापि तत्संग्रहसद्मसध्ये
प्रतापवीरस्य महारणस्य ।
कुन्तान् कृपाणान् कवचानि लोको
निरीक्ष्य को विस्मयमेति नान्तः ? ॥ १२१ ॥

एकैकमप्येषु गुरुत्वशालि
प्रतापवीरेण धृतं रणेषु ।
सामर्थ्यवान् साम्प्रतिको मनुष्यो
वीरोऽपि नोत्थापयितुं समर्थः ॥ १२२ ॥

तत्रैव पृष्ठास्तरणं पुराणं
निभाल्यते तस्य च चेतकस्य ।
वीराग्रणीः कोऽपि नरो गृहीत्वा
जनुर्ध्रुवं घोटकजन्म लेभे ॥ १२३ ॥

भयद्रुतस्यह्यवरंगजेब-
पितुः कदाचिच्छरणागतस्य ।
उष्णीषमद्यापि विलोक्यतेऽत्र
सुरक्षितं शाहजहाँ-नृपस्य ॥ १२४ ॥

पत्राण्यनेकानि च राजकीय-
प्रबन्धवन्निर्जरवाङ्मयानि ।
तत्र स्थितानि प्रविलोक्य राष्ट्र-
भाषात्वमासिध्यति संस्कृतस्य ॥ १२५ ॥

इङ्गलैण्डराजेन तु मित्रतायाः
सम्बन्ध आस्ते हि महाशणस्य ।
संसूचयत्येतदमुष्यमुद्रा-
ङ्कितं वचो निर्जरवर्णजन्म ॥ १२६ ॥

निर्भीतयोऽस्मिन् विचरन्ति गावः
श्वानश्च शुन्यो विविधाः प्रमत्ताः ।
सद् ब्रह्मचर्य्यं परिपाल्यमानाः
संरक्षिता भोजनपानतृप्ताः ॥ १२७ ॥

यावद्धि दिल्लीनगरे वरेण्ये
नैजाधिपत्यं न भवेद्धि तावत् ।
पत्रेषु भोज्यं भवनं न रच्यं
प्रतापवीरेण कृता प्रतिज्ञा ॥ १२८ ॥

संपाल्यतेऽद्यापि किरातवंश्यैः
शीतोष्णदुःखानि शतं सहित्वा ।
तलेष्वरण्येषु महीरुहाणां
वसद्भिरेतैर्गिरिगह्वरेषु ॥ १२९ ॥

किरातवीरत्व - कथा प्रसिद्धा
तदीय-बालोऽपि च निर्भयोऽस्ति ।
व्यापादयत्येकशरेण सिंह-
व्याघ्रादिहिंस्रानपि वन्यजन्तून् ॥ १३० ॥

इमे किराताः प्रभवन्ति वीराः
श्रद्धालवः साधुषु भूसुरेषु ।
विश्वासभाजो निजराष्ट्रभक्ता
आखेटसक्ता विचरन्ति चात्र ॥ १३१ ॥

स्त्रियस्तदीया अपि साधुशीला-
श्छलादि-दोषैर्नितरां विहीनाः ।
पतिव्रतं स्वं परिपालयन्त्यो
गायन्ति नृत्यन्ति सदा प्रसन्नाः ॥ १३२ ॥

निरीक्ष्य सर्वं प्रससाद योगी
सधन्यवादं नृपमित्युवाच ।
गन्तुं समीहे नगरात्तवाऽहं
निजामनुज्ञां मम देहि राजन् ॥ १३३ ॥

श्रुत्वा वचस्तन्मुनिपुङ्गवस्य
स भूपतीनां वृषभो न्यगादीत् ।
भाषस्व मैवं भगवन् मुनीन्द्र !
त्वया विना नैव सुखं लभेऽहम् ॥ १३४ ॥

वस्तव्यमत्रैव मदीयराज्ये
दया विधेयाऽऽहृतराजयोगिन् !
चित्तौरदुर्गाश्रित - राज्यखण्डं
दास्यामि ते त्वं मयि सुप्रसीद ॥ १३५ ॥

नैजं गेहं सर्वसम्पत्सुखाढ्यं
भूस्वामित्वं साधु, मत्वा तृणाय ।
धर्मं गोप्तुं शाश्वतं भूतरक्षं
संन्यासी यस्तस्य राज्येन किं स्यात् ॥ १३६ ॥

निजचरणमुपेतं तं नृपेन्द्रं यतीन्द्रः
प्रणययुतवचोभिः स्वैः समाश्वास्य यत्नात् ।
पुनरपि तव वेश्मन्यागमिष्यामि राजन्
इति वचनमुदीर्य स्वाश्रमं स प्रतस्थे ॥ १३७ ॥

इति श्रीकविवर्यविन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिविरचिते महर्षि-
श्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये त्रयोदशः सर्गः ।



॥ अथ चतुर्दशः सर्गः ॥

कृष्णधाम मथुरां समागतो
भारतीय-शुभ-संसदोऽखिलाः ।
धार्मिकीः स विरचय्य संहताः
संघशक्तिमधिगन्तुमैहत ॥ १ ॥

सिद्धिरस्ति तपसा कलौयुगे
ज्ञानतः सफलता तु तत्परे ।
द्वापरेऽभिमत-यागयोगतः
संघशक्तिमिह साऽऽश्रिता कलौ ॥ २ ॥

मण्डली तु निगमागमाभिधा
स्थापिता यतिवरेण या पुरा ।
तद्विधेय-परिचालकानसौ
व्याजहार वचनं बुधानिति ॥ ३ ॥

भारतेऽत्र भगवत्कृपा सदा
तिष्ठतीति न च कोऽपि संशयः ।
तद्वरेण्यपुरुषार्थसाधनात्
स्याद् ध्रुवं हि सफलो मनोरथः ॥ ४ ॥

हन्त सम्प्रति तु भारतावनौ
व्याप्नुतेऽद्भुतविदेशि शासनम् ।
किन्तु शास्त्यखिलभारतं त्विदं
भूभुजां प्रवर एक आङ्ग्लराट् ॥ ५ ॥

आङ्ग्लभूपतिवरस्य तस्य तु
खैस्तधर्मसमुपाश्रितत्वतः ।
आर्यधर्म-जनता-समुन्नति-
र्धार्मिकी न हि कदापि सेत्स्यति ॥ ६ ॥

तद्धिताहितविचारवान् निजे
भारतेऽत्र परवानपि ध्रुवम् ।
ज्ञान-संस्कृतिं-समाज-धर्मयुक्
स्वोन्नतिं स्वयमिहाचरेद् बुधः ॥ ७ ॥

गैहिकव्रतरताश्च धार्मिका
भूसुरा विरतिभृत्तपस्विनः ।
साधवो न्यसन-धर्म-विश्रुता
भारतेऽद्य विलसन्ति सर्वतः ॥ ८ ॥

वर्णकाश्रम-सुबीजमाप्यते
शुद्धशोणितमिहार्यजातिषु ।
स्वल्पकादपि परिश्रमान्निजात्
सिद्धिमाप्स्यति समीहितं ध्रुवम् ॥ ९ ॥

दुष्करं किमपि यत्नमन्तरा
तीर्थनामसु पवित्र-धामसु ।
धर्मभावनिरताः स्त्रियो नराः
सम्मिलन्ति प्रतिपर्व कोटिशः ॥ १० ॥

सर्वथा धनिजनैरुपेक्षिता
भिक्षुकीं च निजवृत्तिमाश्रिताः ।
भूमिदेव-वटवो निरन्तरं
संस्कृतां सुरगवीमधीयते ॥ ११ ॥

संस्कृतं विपुल-वाङ्मयं हरे
　　नाशमैत् कठिनकाल-वैभवात् ।
यच्च साम्प्रतमिहावशिष्यते
　　ब्राह्मणा विदधतेऽस्य रक्षणम् ॥ १२ ॥

वस्तुतस्त्रिविधलोकपावनं
　　प्रायशोऽद्य भुवनेषु दुर्लभम् ।
आर्यजातिललनासु दृश्यते
　　शीर्षमुग्रतपसां पतिव्रतम् ॥ १३ ॥

अन्नसंकट-दिने भयावहे
　　सम्प्रदानमिह चान्नवाससाम् ।
आर्यधर्ममनुसृत्य साम्प्रतं
　　विस्मरन्ति नहि हिन्दवो जनाः ॥ १४ ॥

भूरिशो नवनवाञ्जलाशयान्
　　दैवतानि भवनानि भूरिशः ।
अर्थसंग्रहमपास्य हिन्दवः
　　कुर्वते जगति धर्मसिन्धवः ॥ १५ ॥

बाह्यलक्ष्यमपि चेन्द्रियान्वितं
　　सौख्यमृद्धजडवादवैभवम् ।
दृश्यते प्रथितपाशवं बलं
　　सभ्यमानिजनतासु भूतले ॥ १६ ॥

आर्यजातिषु तु लक्ष्यमान्तरं
　　जीवनं विरतिसंयुतं शुभम् ।
अर्हितं न विषयैर्विगर्हितं
　　साम्प्रतं च परिलक्ष्यते जनैः ॥ १७ ॥

सत्यधर्मपरिपन्थि - दुःस्थिता-
वत्र सम्प्रति च हिन्दुजातिषु ।
धार्मिकस्तदनुकूल आर्थिको
ह्येधनीय इह भाव उत्तमः ॥ १८ ॥

अन्यथाऽऽर्यजनपावनास्तिता
भाविसंकटशतैः समाकुला ।
सम्भविष्यति भविष्यति ध्रुवं
भारतेऽपि परिभाव्यतां बुधैः ॥ १९ ॥

आर्यशास्त्रविहितानुशासनं
शान्तिदं त्रिविधमस्ति मानितम् ।
आत्मिकं च खलु शाब्दिकं तथा
राजसम्मतमिति प्रकीर्त्तितम् ॥ २० ॥

आत्मिकं जगति यौगिकं स्मृतं
शाब्दिकं किल समाजसंज्ञितम् ।
शास्त्रिकं च गदितं तदेव वै
दाण्डिकं भवति राजसम्मतम् ॥ २१ ॥

आत्मिकं परमदुष्करं मतं
सेवनीयमिह राजयोगिभिः ।
शाब्दिकं किल समाजशासनं
दण्डभृन्निगदितं नृपाश्रितम् ॥ २२ ॥

भूपतिस्तु परधर्म-संरतो
न स्वधर्मनिरतो विलोक्यते ।
एषकः कथमिमं हि रक्षताद्
धर्ममार्यजनतानिषेवितम् ॥ २३ ॥

दुःखदं भुवि विजेतृशासनं
प्रायशस्तु परधर्ममाश्रितान् ।
लक्षशो निजकृतात्प्रयत्नतो
हन्त तद्धि कवलीकरोति तान् ॥ २४ ॥

अस्ति चैतदितिहाससम्मतं
न प्रमाणमिह किञ्चिदीप्सितम् ।
ज्ञायते तदितिवृत्तकोविदै-
श्चिन्तनीयमधुनाऽऽत्मरक्षणम् ॥ २५ ॥

रक्षितान्निजसमाजशासनाद्
आत्मरक्षणमिहास्तिसम्भवम् ।
एधनीयमपि तद्विपश्चिता
जातिधर्मपरिपोषमिच्छता ॥ २६ ॥

सर्ववर्णमहितास्तु भूसुरा
न्यासिनस्तु निखिलाश्रमस्तुताः ।
सन्ति धर्मविमुखा वतोभये
हिन्दवोऽवनतिमाश्रिता यतः ॥ २७ ॥

सर्वथा प्रयतनीयमीदृशं
येन तूर्णमुभयेषु संहसेत् ।
स्वार्थसिद्धिरिह भोगलालसा
स्वेन्द्रियेषु निरतिर्दुरत्यया ॥ २८ ॥

कर्मयोगमिममाश्रयन्तु ते
कामनारहितमात्ममुक्तिदम् ।
संयमं विदधतो हृदोऽनिशं
साधयन्तु निजभूसमुन्नतिम् ॥ २९ ॥

ब्राह्मणेषु तु तपः प्रवर्धतां
श्रौतबोधजनिता परारतिः ।
साधवो विषयरागवर्जिताः
सन्तु धर्मभुवनोपकारकाः ॥ ३० ॥

एतदात्म-विधिसाधनादृते
नान्यवर्ण इह सत्पथं व्रजेत् ।
मानवा अनुसरन्ति भूतले
नायकानिह सतोऽसतोऽपि वा ॥ ३१ ॥

तीर्थधामनि वसत्पुरोधसः
स्युर्हि सात्त्विकहृदो यदा तदा ।
पुण्यतीर्थमटतां मनस्स्वहो
जागृयात् किमु न धर्मभावना ॥ ३२ ॥

स्वीयकर्मनिरता तपस्विनी
निम्नजातिरपमन्यते सदा ।
चेन्मतान्तर-समाश्रिता भवेत्
सा समादर-दृशा विलोक्यते ॥ ३३ ॥

नैजकर्मणि रतोऽस्ति यो नरः
श्रेष्ठतामधिगतः स एव हि ।
उच्चवर्ण-जननोऽपि पापकृद्
गर्हणीय इति शास्त्रडिण्डिमः ॥ ३४ ॥

भारतं न निजजन्म भूस्तथा
हिन्दवोऽन्यत उपस्थितास्त्विह ।
बालसंघ इति विब्रुवाणया
शिक्षया दनुजकन्ययाऽद्यते ॥ ३५ ॥

सम्भवस्तु न हि रामकृष्णयोः
केवलं तु कविकल्पितावुभौ ।
नाशितं न इतिवृत्तमद्भुतं
शिक्षयाऽद्य विपथायिता वयम् ॥ ३६ ॥

ऐतिहासिक - विपश्चिदग्रगा
विश्ववन्द्य-सदुपाधि - धारकाः ।
शिक्षकास्तु न हि वक्तुमीशते
हन्त भीष्मजनकस्य कः पिता ॥ ३७ ॥

आङ्ग्लदेश - जनुषां तु ते नृणां
सर्वमादित उदन्तमादरात् ।
आरटन्ति सततं परिश्रमैः
शिक्षयाऽलमनयाधुनेदृशा ॥ ३८ ॥

मानवार्यजन - पुरुषाः पुरा
सद्विवेक - रहिता वनेचराः ।
विभ्रतेस्म पशुतुल्यतामिदं
शिक्षयन्ति गुरवः पुराविदः ॥ ३९ ॥

त्रिःसहस्रमित - हायनावधिः
ख्रिस्तजन्म समयात्पुराश्रुतेः ।
संविकास इति घोषयन्ति ते
पश्चिमीय - बुध - चोद्य - बुद्धयः ॥ ४० ॥

आर्यकालगणनामृतान्वितां
संविभाव्य विदुषा तु तद्विदा ।
प्राप्नुवन्ति गजसंनिमीलिकां
घूर्णितस्वशिरसो भवन्ति च ॥ ४१ ॥

आर्यशास्त्रकथितं धरा-
ऽऽकर्षणं ध्रुवमतद्विदो जनाः ।
न्यूटनेन परिलक्षितं पुरा
शिक्षयन्ति निजबालकानिति ॥ ४२ ॥

भूश्चला च दिननायकोऽचल
आर्यभट्टगदितं मतं त्विदम् ।
हन्त बोधविधुरा वदन्ति ते
पश्चिमीय - विदुषा प्रवर्त्तितम् ॥ ४३ ॥

विद्वदार्य - परिचिन्तिताद्भुतं
दैविकं ग्रहणकारणं च ते ।
नावधार्य वत विभ्रमान्विताः
खण्डयन्ति परिगर्हयन्ति च ॥ ४४ ॥

भूस्थितिश्च किल शेषमस्तके
नैव चास्य वचसः सदाशयम् ।
संविचिन्त्य बुधमानिनो जनाः
कुञ्चयन्ति निजनासिकाः सदा ॥ ४५ ॥

मानचित्रशिरसः सदा स्थिति-
श्चोत्तरे कथमिवादृता बुधैः ।
वासरक्रमविकासकारणं
हिन्दु - शास्त्रत इहावबुध्यते ॥ ४६ ॥

एतदादिकसमस्त - संशय-
च्छेदकानि विविधानि साम्प्रतम् ।
पुस्तकानि विरचय्य भूतले
यान्तु तूर्णमिह संप्रकाशताम् ॥ ४७ ॥

अन्य - धार्मिक - वरेण्य - पुस्तका-
न्यारचय्य हृदय - स्थितासताम् ।
अन्धकारततिराशु हन्यतां
येन भारतयशः समृध्नुयात् ॥ ४८ ॥

सम्प्रति प्रतिपलं प्रयत्यतां
लोक-संग्रहपरैर्भवादृशैः ।
आर्यसांस्कृतिक-बीजरक्षणं
संभवेदिह युगे कलावपि ॥ ४९ ॥

किं वदामि निजदेश-दुर्दशां
शिक्षिता अपि सुमेधसो नराः ।
स्वीय - धार्मिक-समाजसभ्यतां
सर्वदां विगुणयन्ति सर्वदा ॥ ५० ॥

देहसौष्ठवमथान्तरं बलं
निःप्रयासमपि जीविकार्जनम् ।
सार्वदेशिकविपश्चिदुत्तमैः
शिक्षणं निगदितं त्रिलक्ष्यकम् ॥ ५१ ॥

आङ्ग्लदेश-जनता - प्रचारिता
शिक्षणस्य बत रीतिरद्भुता ।
तत्र चैक - विषयस्य हन्त भोः
गन्धमात्रमपि नोपलभ्यते ॥ ५२ ॥

ब्रैटिशे बहुधनाप्य-शिक्षणे
को गुणोस्ति न मयाऽवधार्यते ।
भृत्यकर्मकर-लब्धिहेतवे
तत्प्रचारितमिहाङ्ग्लदेशजैः ॥ ५३ ॥

मातुरात्मन उत स्त्रियोऽपि वा
बन्धकीकृतवता ह्यलङ्कृतीः ।
विक्रयं वत विधाय सम्पदां
कश्चिदद्भुत उपाधिरर्जितः ॥ ५४ ॥

किन्तु विश्वमखिलं तु शून्यवद्
दृश्यते न भृतिराप्यते क्वचित् ।
अन्ततश्च परितो विषीदता
निन्द्यकर्मणि रतेन भूयते ॥ ५५ ॥

देशजातिहितसाधनक्षमं
स्याद् यतः सुलभजीविकार्जनम् ।
स्वावलम्बनपरायणं शुभं
शिक्षणं द्रुतमिह प्रसार्यताम् ॥ ५६ ॥

वेदमूल-निजधर्म-पालनं
ह्रासमेति सततं दिने दिने ।
तद्धिताय जगतां गृहे गृहे
धर्मशिक्षणमिह प्रचार्यताम् ॥ ५७ ॥

आर्यजातिरियमास विश्रुता
धर्मपालनपरा स्वभावतः ।
किन्तु बुद्धसमयादहर्निशं
याति सा शिथिलतां स्वकर्मणि ॥ ५८ ॥

तद्दिनादिह हि साऽधुनावधि
भीषणेऽपि समये सुरक्षिता ।
येन, तद्धि बलवद् विधीयतां
धार्मिकं निजसमाजशासनम् ॥ ५९ ॥

येन यावन - कारल - शासने
स्थापितेन विहितं सुरक्षणम् ।
सर्वशान्तिदसदार्यसंस्कृतेः
तत्पुनः प्रतिपुरं प्रसार्यताम् ॥ ६० ॥

सज्जनाश्च सुधियः पुरस्कृता
दुर्जनास्तु कुधियः स्तिरस्कृताः ।
सम्भवेयुरिह भारते यदा
स्यात् समाजबलवर्धनं तदा ॥ ६१ ॥

दण्डनीतिमनुसृत्य चाधमा
मध्यमास्तु परितोषलोभतः ।
पालयन्ति विधिमुत्तमं नराः
शास्त्रदर्शितपथेन यान्ति च ॥ ६२ ॥

उत्तमाः कमपि हेतुमन्तरा
धर्ममार्गनिरताः स्वभावतः ।
सम्भवन्ति परमार्थ - साधका-
स्ते समेऽपि समयन्ति सत्पथे ॥ ६३ ॥

अन्नसत्र-सुरमन्दिरादय-
स्तीर्थ - धर्म - मठ - पाठनालयाः ।
भारतेऽत्र विलसन्त्यसंख्यका-
स्तन्नियन्त्रणमरं विधीयताम् ॥ ६४ ॥

चेतसां तु सदसत्प्रभावतो
मन्दिर - स्थित - सुपर्वसेविनाम् ।
वर्धते हसति चापि दैविकी
शक्तिरेष किल शास्त्रनिर्णयः ॥ ६५ ॥

तत्समस्त - सुरपूजकैः सदा
भाव्यमत्र भुवि सत्त्ववृत्तिभिः ।
पारमेश्वरदया तदैव भोः
भारतीयजनतासु सम्भवेत् ॥ ६६ ॥

धर्मपीठशतसंस्थिता ध्रुवं
साधवः परमधार्मिकाः सदा ।
भारतीयनगरेष्वटाट्यया
वर्धयन्तु नरधर्मभावनाम् ॥ ६७ ॥

धर्मरक्षणकृते तु भूसुरैः
साधुभिश्च दययाऽन्वितैरपि ।
धार्यतां विपुलमास्तिकं बलम्
इत्युवाच भगवान् मनुः स्वयम् ॥ ६८ ॥

आर्यजातिवनितासु वर्ध्यताम्
सत्पतिव्रतपरा शुभा रुचिः ।
यत्कृपां समधिगत्य सर्वदा
हिन्दुजातिरियमत्र जीवति ॥ ६९ ॥

यत्यतां निजसमाजसंघटे
पत्यतां भरतभूमिरक्षणे ।
नीयतां सुरगवी समुन्नतिं
हीयतामसुरसंगतिः सदा ॥ ७० ॥

चाल्यतां प्रबलपञ्चकायता
रीतिरद्भुततमाऽद्य भारते ।
पाल्यतां स्वविहिता प्रतिश्रुति-
र्लाल्यतां दलितदेशबन्धुता ॥ ७१ ॥

पञ्चायतेन विधिना समनुष्ठितेन
सम्मेलनेन निजधर्ममहासभायाः।
संस्थापनं प्रतिनिधेः सकलार्यजाते-
रावश्यकं हितमुदीर्य यतिर्व्यरंसीत् ॥ ७२ ॥

इति श्रीकविवर्यविन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिविरचिते महर्षि श्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये चतुर्दशः सर्गः ॥

———

अथ पञ्चदशः सर्गः

स केशवानन्दयतिस्तपोधनः
प्रसिद्ध - वृन्दावन - पुण्यधामनि ।
विनिर्मिते रम्यतमे निजाश्रमे
स्वशिष्यवृन्दैः सहितः समाययौ ॥ १ ॥

अयं गुरुर्यद्यपि दीक्षयाऽभवत्
परन्तु योगिप्रवरस्य योग्यताम् ।
अमन्यतातो मथुरामुपस्थित-
स्तदन्तिकं चापि ययौ यदा कदा ॥ २ ॥

गुरुस्तु मुक्तेन सदैव जीवता
स्वकीयशिष्येण महत्त्वमाप्तवान् ।
न चात्र चित्रं परिचिन्त्यतां बुधैः
पयोनिधिश्चन्द्रमसा प्रवर्धते ॥ ३ ॥

यतीश्वरो ब्रह्मविदस्ति जन्मतो
न तस्य किञ्चिद् गुरुणा प्रयोजनम् ।
तथापि लोकव्यवहारपद्धतिं
रिरक्षिषुः संश्रितवान् गुरोः पदम् ॥ ४ ॥

गुरोः सदाध्यात्मिकमार्गदर्शको
ऽपि शिष्य एवाभवदित्यवेत्य सः ।
गुरुः स्वशिष्यं परमार्थवेदिनं
परं प्रसद्यादियतेस्म सर्वदा ॥ ५ ॥

अभूदयं तान्त्रिकमार्गपद्धतिं
समाश्रितः सिद्धवरो महायशाः ।
स्वविद्यया साधयतेस्म सन्ततं
स्वशिष्यवर्गस्य समस्तकामनाः ॥ ६ ॥

उपासनापद्धतिरस्ति तान्त्रिकी
द्विधा मता दक्षिण-वामनामतः ।
उभे जनानामधिकारभेदतो
विमुक्तिमाप्ते परियच्छतः पराम् ॥ ७ ॥

स दक्षिणो मार्ग इहास्तिपाशवो-
ऽपरस्तु वामः किल वीर उच्यते ।
अकर्म कुर्वन्नपि मोक्षमेति त-
न्नरः स वीरो गदितो हि तान्त्रिकैः ॥ ८ ॥

पुमांश्च यो राजपथं समाश्रयन्
प्रयाति चेत्तन्महिमा न तादृशः ।
परन्तु यः संकट - संकुले पथि
व्रजन् स्वलक्ष्यं प्रति यात्यसौ वरः ॥ ९ ॥

नितान्त - भीमे पथि वामनामके
निपातशंका गमने पदे पदे ।
तथापि मार्गं तमथाश्रयन् पुमान्
प्रयाति मुक्तिं ननु वीर एव सः ॥ १० ॥

मुनिः स वीरोचितपद्धतिं श्रितः
प्रसिद्ध आसीद् भुवि केशवाभिधः ।
तदन्तिकेऽनन्तसुवर्ण-वर्षणं
व्यधत्त तस्यानतशिष्यमण्डली ॥ ११ ॥

स केशवानन्दगुरुर्महोत्सवं
समाचचार प्रतिहायनं बुधः ।
ऋतौ समागच्छति शारदे शुभे
मुदान्वितः सन् नवरात्रपर्वणि ॥ १२ ॥

स शारदीयेऽत्र महामहोत्सवे
गुरुः स्वशिष्यं बहुशो न्यमन्त्रयत् ।
तथापि शिष्यो न जगाम, कारणं
न्यवेदयच्चापि गुरोः पदाम्बुजे ॥ १३ ॥

विलुप्तमुच्छिन्नमहो वताद्भुतं
यदस्ति कात्यायनिकं हि पीठकम् ।
वरेण्यवृन्दावन - कीर्त्तिकारणं
तदुद्धृतिश्चेद् भवता विधास्यते ॥ १४ ॥

तदैव वृन्दावनधाम्नि सद्गुरो
समागमिष्यामि मया प्रतिश्रुतम् ।
अतो द्रुतं शक्तिमता त्वया प्रभो
प्रसिद्धपीठोद्धृतये प्रयत्यताम् ॥ १५ ॥

निशम्य वाचं निजशिष्यभाषितां
परं प्रमोदं समुपेयिवान् गुरुः ।
तदा प्रभृत्येव स पीठमुत्तमो-
त्तमं समुद्धर्त्तुमना बुधोऽभवत् ॥ १६ ॥

कला - प्रवीणैः स्थपतीश्वरैः स्तुतैः
स्वशिष्यलब्धैर्धनराशिभिः शुभैः ।
अरीरचन् मन्दिरमुत्तमं गुरु-
र्महानुभावो महताऽऽदरेण सः ॥ १७ ॥

सुमन्दिरे विभ्रति रामणीयकं
विचित्रिते चाद्भुतकारुकर्मणा ।
प्रपन्नसद्गोपवधूसुकीर्त्तिमद्-
विविक्तवृन्दावन - भूमिमध्यगे ॥ १८ ॥

प्रसीददाभीरकुमारिकार्चितां
जगज्जनन्याः प्रतिमां प्रतिष्ठिताम् ।
विधातुकामः स हि देशिकेश्वरो
निवेदयामास गुरुं महामतिः ॥ १९ ॥

मयाऽतियत्नेन सदष्टधातुभिः
पराम्बमूर्त्ति र्विरचय्य रक्षिता ।
गुरो भवानीपदचञ्चरीकतां
गतो भवान् स्थापयतां हितां हि ताम् ॥ २० ॥

तपस्विनश्चापि महायशस्विनो
महात्मनस्तस्य वरस्य योगिनः ।
वचस्तु कल्याणकरं मनोहरं
स दूरदर्शी गुरुरभ्युपागमत् ॥ २१ ॥

प्रतिष्ठितेरत्र महोत्सवे शुभे
यतीश्वरोऽर्वाक् सह विद्भिरराययौ ।
पराम्बसंस्थापनहेतुकोऽखिलो
विभिन्नसंभारचयोऽपि चागमत् ॥ २२ ॥

विशालभूमौ लसितेऽत्रराधिका-
समाह्वयोद्यानवतीद्धमन्दिरे ।
श्रुतेर्विदः काशिकवङ्गमैथिल-
प्रसिद्धकाश्मीरपुरेभ्य आगमन् ॥ २३ ॥

पराम्बिकेयं कतरद्विधानतो
विराजिता दक्षिणवामयोर्भवेत् ?
स केशवानन्दमुने महात्मनो
बभूव वामो विधिरेव सम्मतः ।। २४ ।।

विपश्चितो ये निगमागमेषु सत्-
प्रसिद्धिमाप्ता वरकर्मकाण्डिनः ।
समागतास्ते यजमानमानसो-
द्गतं मतं तत् परितोऽन्वमोदयन् ।। २५ ।।

जगज्जनन्याः प्रतिमाप्रतिष्ठिति-
र्ध्रुवं हि सा वामपथानुसारिणी ।
विनिश्चिता श्वो भविता शुभे दिने
समागतैरन्यजनैर्बुधैरपि ।। २६ ।।

ततस्तु पूर्वेद्युरनेन योगिना
प्रणष्ट-सर्वेन्द्रियबाह्य-वृत्तिना ।
प्रशान्त-सांसारिक-सर्व-कर्मकं
निशीथमासाद्य समाधिभृद्धृदि ।। २७ ।।

समीक्षिता काचितीव सुन्दरी
प्रसारयन्ती निजतेजसन्ततिम् ।
चतुर्भुजैः पाशवराभयाङ्कुशान्
सुबिभ्रती कान्तिमयी शुचिस्मिता ।। २८ ।।

उवाच योगी वद मातरम्बिके
निजं निदेशं तव सेवकोऽस्म्यहम् ।
तवाज्ञयाऽस्मिन् विचरामि भूतले
यथा निदिष्टोऽस्मि तथा करोमि च ।। २९ ।।

निवेदिता साऽखिललोक-सुन्दरी
जगाद हे पुत्र ! शृणोतु मद्वचः ।
इदं हि वृन्दावनधाम मामकं
समाहृतं वैष्णवनामतश्चिरात् ॥ ३० ॥

अतो मदीयप्रतिमा-प्रतिष्ठिति-
र्भवेत् ध्रुवं वैष्णण-शास्त्र-सम्मता ।
समर्चकानामपि दर्शनार्थिनां
तदैव कल्याणकरी भवाम्यहम् ॥ ३१ ॥

न वाम आचार इहत्यभूतला-
नुकूल आस्ते सुसमादृतोऽपि सन् ।
वसाम्यहं धामनि नैज-वैष्णवी-
स्वरूपमभ्यर्हितमत्र बिभ्रती ॥ ३२ ॥

स वैष्णवाचार इहास्ति मे प्रियो
विधिं तदीयं ह्यनुसृत्य सर्वथा ।
यदि प्रतिष्ठा मम सम्भवेत्तदा
भवेयमार्त्तार्त्तिविनाशकारिणी ॥ ३३ ॥

व्रजे वसन् वैष्णवमाचरन् व्रतं
प्रपद्यते शाश्वत-धाम मामकम् ।
समस्तशास्त्रादृतमेतदीरितं
न रोचते मे भुवि वेद-बाह्यता ॥ ३४ ॥

न चेदनुज्ञा मम पालयिष्यते-
ऽन्यथा प्रतिष्ठा मम कारयिष्यते ।
अमङ्गलं जानपदं दुरत्ययं
ह्यपोह्यमेतद् विधिना न केनचित् ॥ ३५ ॥

इमं तु सन्देशमवाप्य मातृकं
प्रसन्नचेताः स्वसमाधिसंश्रुतम् ।
नतेन मूर्ध्नाऽञ्जलिमावहन् स्वकं
तदाम्बिकेयं यतिरग्रहीद् वचः ॥ ३६ ॥

वचस्तदुक्त्वा श्रुतिसारसम्भृतं
पराम्बिकाऽलौकिक-मूर्त्तिधारिणी ।
सपद्यदृश्या प्रबभूव सा तदा
यतेः समाधिः प्रशशाम सोऽद्भुतः ॥ ३७ ॥

मनःस्थतच्चिन्मय-मूर्त्तिचिन्तने-
निशाव्यतीयाय च राजयोगिनः ।
समुत्थितः प्रातरयं निजासनाद्
गुरोः पदाब्जं प्रणिपत्य सादरम् ॥ ३८ ॥

समाधिवार्त्तां निखिलां न्यवेदयद्
गुरुः समाकर्ण्य तु तां मुदान्वितः ।
विदः समस्तान् द्रुतमाह्वयत् सुधीः
पराम्बिकाज्ञां विदितां चकार च ॥ ३९ ॥

अशेष-वैष्णव्युपचार-सम्पदो
विचित्य शास्त्रप्रतिपादितास्तुताः ।
स्तुता पराम्बाऽखिललोकविश्रुता
प्रतिष्ठिताऽभूत् प्रथितैः सुधीश्वरैः ॥ ४० ॥

प्रतिष्ठितायाः किल मातुरन्तिके
समे समेत्यामलबोधविश्रुताः ।
विपश्चितो योगिन आत्मवित्तमा
जनास्तथाऽन्ये जननीं प्रतुष्टुवुः ॥ ४१ ॥

विदां वरेण्यैः श्रुतिमन्त्रशालिभिः
　　प्रकृष्ट-नैराञ्जनिको विधिः कृतः ।
उपस्थितैरन्यजनैश्च नागरैः
　　समष्टिपुष्पाञ्जलिरर्पितोऽभवत् ॥ ४२ ॥

नरैर्नरेन्द्रैर्व्रजवासिभिर्गृह-
　　स्थितैर्विरक्तैर्मिलितैः सुधीवरैः ।
सदा प्रसन्नैर्विविधैश्च साधुभिः
　　प्रदक्षिणा चापि सदक्षिणा कृता ॥ ४३ ॥

अबालबाला अबला असंख्यकाः
　　समागताश्चात्र महोत्सवे शुभे ।
प्रसादमापुर्मधुरं च पुष्कलं
　　प्रहर्षिताः स्वान् निलयान् प्रतस्थिरे ॥ ४४ ॥

जगज्जनन्याः सुमहत्त्वकीर्त्तनं
　　कथाः पुराणप्रतिपादितास्तथा ।
असंख्यसद्भूसुरसाधुभोजनं
　　दिनान्यनेकानि च चेलुरुत्सवाः ॥ ४५ ॥

अथैकदागत्य लसत्समाधिना
　　दिनान्तकाले जगदम्बिकान्तिके ।
महर्षिणापि श्रुतिपारदर्शिना
　　स्तुतिस्तदीया सनति व्यधीयत ॥ ४६ ॥

त्वमेव मातर्जगदम्बिकेऽखिलं
　　जगच्चरीकर्षि रजः समाश्रिता ।
पुनर्बरीभर्षि च सत्वशालिनी
　　ततो जरीहर्षि तमोगुणात्मिका ॥ ४७ ॥

प्रपन्नलोकार्त्तिविनाशकारिणी
त्वमेव सर्वत्र सदा विहारिणी ।
न चास्ति तत्त्वं किमपीदृशं क्वचिद्
विलोक्यते यत्र न तावकास्तिता ॥ ४८ ॥

ततं समस्तं भुवनं त्वयैकया
सुपर्वणां सात्त्विकशक्तिरूपया ।
सुरक्षितं चाप्यवतीर्य भूतले
प्रपीडितं सत्त्वदनेकरूपया ॥ ४९ ॥

तव प्रभावं नहि वेद पद्मजः
श्रियः पतिर्वा स च भूतभावनः ।
महर्षयो वाऽप्यथ देवदानवा
न वा विदुः केचिदपीह भूतले ॥ ५० ॥

अहो अलं वक्तुमलं न तावकं
न ना न नाक-प्रभवोऽपि कश्चन ।
अपोह्य दुष्टात्मसमुद्भवं भयं
सनाथनीयाः शरणागता वयम् ॥ ५१ ॥

अनन्तशून्ये जगदण्डकान्यहो
त्वदेकशक्त्या विलसन्त्यनेकशः ।
असंख्यकास्ते विधिविष्णुशम्भवः
सशक्तिकास्तेषु चरन्ति सन्ततम् ॥ ५२ ॥

अगण्यसूर्यग्रहचन्द्रतारकं
प्रकाशितं भाति तवैव तेजसा ।
न तत्पदार्थो भुवनेषु दृश्यते
त्वया विना यस्य पृथक् स्थितिर्भवेत् ॥ ५३ ॥

ऋते त्वया व्यर्थजनुः प्रजापति-
र्मुधा स विष्णुर्यदि न श्रियान्वितः ।
शिवः शवः स्यात्तवशक्तिमन्तरा
परं शरण्यं कमिहाश्रयामहे ? ॥ ५४ ॥

यशो गुणं पादमयीशि वैभवं
समाह्वयं रूपमतन्द्रितास्तव ।
स्मरन्ति गायन्ति नमन्ति मन्वते
जपन्ति पश्यन्ति भवन्ति तेऽभयाः ॥ ५५ ॥

जगत्प्रपञ्चस्य निदानमव्ययं
त्वमेव विश्वेश्वरि वर्त्तसेऽमलम् ।
विहाय मातस्तव पादपङ्कजं
मृगभ्रमोऽन्यत्र गमो विभाति नः ॥ ५६ ॥

शिशून् स्वकीयानपराधसंकुलान्
जहाति माता न दयार्द्रमानसा ।
अतोऽस्मदीयाखिलदोषराशय-
स्त्वया विधेया मनसो निराकृताः ॥ ५७ ॥

तथा मतिर्मातरुदेतु नो यथा
भवे न धर्माद् विमुखा भवेमहि ।
भवानि भूयोऽपि समूहशालिनी
समेधतां शक्तिरिहाम्ब भारते ॥ ५८ ॥

पुनः प्रसर्पेद् भुवि चार्यसंस्कृतिः
कृतिः कदर्या सकलास्तमेतु च ।
न कोऽप्यनीशोऽपि महेशि दुर्गतिं
गतो भवेत्तेऽत्र दयावशंवदः ॥ ५९ ॥

श्रुति - स्मृति - प्रोक्तमथात्मसम्मतं
पुराणतन्त्रादिसमर्थितं च यत् ।
स्वकीय - वर्णाश्रम - धर्मपालनं
परम्पराप्तं हि मतं त्वदर्हणम् ॥ ६० ॥

उपद्रुतं हन्त समष्टि-कर्मणां
प्रभावतो भारतवर्ष-वासिनाम् ।
त्वदीयपीठं दयया त्वदीयया
समुद्धृतं प्रेरणया तवैव च ॥ ६१ ॥

सुरेशि ! कात्यायनि ! देवि ! तावके
सदङ्घ्रिपाथोज-रजस्सनाविले ।
समर्पितं मेऽस्ति समस्तजीवनं
यथेच्छमाचारय मामनारतम् ॥ ६२ ॥

स्तुता परामबा स्वसुतेन निश्छलं
जगाद हे पुत्र ! जहीहि कश्मलम् ।
अलं विषादेन भजस्व निर्वृतिं
समस्तकार्यं तव साधयाम्यहम् ॥ ६३ ॥

समाप्तिमगमद् यदा
व्रजविधीयमानोत्सवो ।
बुधाः किल विसर्जिता
इह सुमन्त्रिता येऽभवन् ।
निजैः सहचरैः सह
प्रणतिभिः प्रसाद्य प्रभुः ।
जगाम मधुरां पुरीं
गुरुवरेण चाज्ञापितः ॥ ६४ ॥

इति श्री कविवर्यविन्ध्येश्वरी-प्रसाद-शास्त्रिविरचिते महर्षि
श्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये पञ्चदशः सर्गः ॥

———

॥ अथ षोडशः सर्गः ॥

ईश्वरेच्छानुकूलैव सर्वा क्रिया
सिद्धिमाप्नोति सर्वाद्दतेयं कथा ।
तस्य चेशस्य यत् सम्मतं नास्ति तत्
सम्भवेन्नैव यत्नैः सहस्रैरपि ॥ १ ॥

श्रीजगन्मातुरादेशतो योगिनः
सत्यसंकल्पिते स्वीयकार्येऽचिरम् ।
सिद्धिसल्लक्षणं चक्षुषोर्गोचरं
प्राप्तमैशी कृपा संविधत्ते न किम् ॥ २ ॥

धर्मसंस्थानकं तन्महामण्डलं
भारतीयैः प्रसिद्धैर्विपश्चिद्वरैः ।
धर्मरक्षां विधातुं तदानीन्तनैः
संगतैः स्थापितं पूर्वमेवाभवत् ॥ ३ ॥

किन्तु नासीत्तदीया व्यवस्था शुभा
नापि सन्नास चायव्ययानां क्रमः ।
येन यत्रैव लब्धं तदर्थं धनं
तत् समग्रं निजाधीनमापादितम् ॥ ४ ॥

मानवोऽसौ शुचिः सम्मतः सर्वथा
यः किलार्थे शुचिर्मन्यते सज्जनैः ।
वारिमृत्स्नादिभिश्चापि संशोधितो
यद्यनीदृङ्नरः सोऽशुचिः सर्वदा ॥ ५ ॥

स्वार्थहेतोस्तु सर्वे विवादे रताः
सम्बभूवुस्तथाऽन्योन्यविद्वेषिणः ।
काञ्चने संनिवासः कले विंद्यते
किंवदन्तीयमास्ते जगद्विश्रुता ॥ ६ ॥

आगमानां श्रुतीनां च सञ्चारिणी
योगिना मण्डली या तु संस्थापिता ।
तद् विधेयं समस्तं सदभ्यर्हितं
तेन सर्वत्र चैष प्रसिद्धिं गतः ॥ ७ ॥

कर्मणां संनियन्त्रा परेणात्मना
प्रेषिता विद्वरा मण्डलस्योन्नतिम् ।
कर्तुंकामा निजद्वन्द्वशान्तीहया
योगिराजस्य पादाम्बुजं भेजिरे ॥ ८ ॥

मण्डली सा तथा तन्महामण्डलं
ह्येतयोर्लक्ष्यमेकं वरीवृत्यते ।
भिन्नरूपं द्वयोर्नैव सत्सम्मतं
धर्मसेवाव्रतैः सद्भिरालोचितम् ॥ ९ ॥

सा महामण्डली तन्महामण्डलं
संगता सन्दधीत द्वयी चैकताम् ।
श्रीमहामण्डलं चेति नव्याख्यया
संप्रसिद्धिं व्रजेद् धर्मसंस्थानकम् ॥ १० ॥

शक्तिमाद्यां यदा ब्रह्म संगच्छते
सर्वशक्तिस्तदा बोभवीतीश्वरः ।
तद् विधेयं जगत्यां न संदृश्यते
यद्धि नानुष्ठितं तेन संजायते ॥ ११ ॥

मानवीयैश्च विद्वज्जनैः प्रस्तुतं
श्रीमहामण्डलस्याखिलो वाह्यताम् ।
कार्यभारो यतीन्द्रेण, चान्यैर्बुधै-
रत्र साहाय्यमस्य त्वनुष्ठीयताम् ॥ १२ ॥

सर्वलोकादृतं तन्मतं स्वीकृतं
प्रोक्तमेतन्मुनीन्द्रेण चेन्मण्डलम् ।
राजरीतीरनुसृत्य पञ्जीकृतं
स्यादहं वो वचः स्वीकरिष्ये तदा ॥ १३ ॥

स्वार्थदुष्टग्रहग्रस्तचित्तैर्जनैः
राजपञ्जीकृतेः स्वामिनस्तन्मतम् ।
नैव चाङ्गीकृतं, किन्तु सम्मानितै-
र्धर्मसेवैकलक्ष्यैर्बुधैः स्वीकृतम् ॥ १४ ॥

सर्वलोकेष्विहोपस्थितेष्वेकको
"लाहिडी" चेत्युपाधिं दधद्यो बुधः ।
प्राह—सर्वैर्मतं मामकं श्रूयतां
धर्मसेवासु बद्धादरैः सज्जनैः ॥ १५ ॥

धार्मिकाणां सतामेकसम्मेलने
स्वीकृतं वा मतं चेद्धि सम्पत्स्यते ।
नूनमेवाखिलं धर्मकार्यं सता
संविधेयं प्रसद्यामुना स्वामिना ॥ १६ ॥

श्रीमहामण्डलस्याधिवेशो महान्
एक आवश्यकः संविधेयो द्रुतम् ।
भारतस्याखिलप्रान्ततो हिन्दुभिः
प्रातिनिध्यं गतैस्तत्र सम्मिल्यताम् ॥ १७ ॥

सद्गृहस्था व्रतस्था मठाधीश्वरा
न्यासिनस्ते तथोदासिनः साधवः ।
शङ्कराचार्यपीठाधिपा वैष्णवा-
चार्यपीठेश्वरा आव्रजन्तु ध्रुवम् ॥ १८ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यशूद्रास्तथा
सन्ति मूर्धन्यभूताः समाजेषु ये ।
नैज - वर्णाश्रमादर्शभूतानरा-
स्तत्र सर्वे समायान्तु निश्चप्रचम् ॥ १९ ॥

तस्य वाचं समाकर्ण्य सर्वे जना
नीतिगर्भामृतामानन्दुर्भृशम् ।
स्वीकृतां चक्रिरे चैकमत्येन ते
प्रस्तुता सम्बभूवुश्च तत्पूर्त्तये ॥ २० ॥

द्वारवङ्गेश्वरो यः प्रधानोऽभवत्
तस्य पार्श्वे बुधः कोऽपि संप्रेषितः ।
उत्सवार्थं जिघृक्षुस्तदीयां मतिं
स्वीकृतिं तस्य चादाय सोऽप्याययौ ॥२१॥

अष्टपञ्चाङ्कभूसम्मिते वैक्रमे
हायनेचैत्रकृष्णे चतुर्थ्यां तिथौ ।
शुक्रवारे महामण्डलीयोत्सवो
निश्चितो माथुरे धाम्नि सर्वैर्बुधैः ॥ २२ ॥

पत्रमामन्त्रणस्य प्रकाशं गतं
प्रेषितं चापि सर्वत्र तद्भारते ।
सर्वभाषामयान्युद्गतं चक्रिरे
भारतीयानि संवादपत्राण्यपि ॥ २३ ॥

धर्मनेतार आप्तासकामाः समे
भूपतीन्द्राः सुधीन्द्रा यतीन्द्राश्च ये।
ज्ञानिनो मानिनो दानिनः श्रेष्ठिनः
प्रान्ततः सर्वतो भारतस्यागमन् ॥ २४ ॥

सुप्रसिद्धे वरे "श्रेष्ठिवाड़ा"ऽभिधे
धाम्नि रम्ये मधोरुत्सवोऽसौ महान्।
त्रीण्यहानि प्रकृष्टश्चचाराद्भुतः
वर्णनं तस्य कः कर्त्तुमीशो भवेत् ॥ २५ ॥

आगता ये सदस्याः सभामण्डपे
दिक् सहस्राधिकाः प्रायशस्तेऽभवन्।
तद्विचित्रैः शिरोवेष्टनैः शोभनै-
र्भ्राजितं तत् सदःस्थानमालक्षितम् ॥ २६ ॥

मध्यगे चातिरम्योपवेशस्थले
रेजिरे सुप्रसिद्धाः शतं क्ष्माभृतः।
यत् किरीटेषु सक्तैर्महाहीरकै-
स्तिग्मरश्मिच्छटाऽऽलोक्यत प्रोज्ज्वला ॥ २७ ॥

उत्सवं धार्मिकं द्रष्टुकामाः सुरा
गोत्रभृत्संयुताः कृष्णजन्मस्थले।
त्यक्तवन्तः सुधर्माभिधां संसदं
किं समाजग्मुरेतज्जनैर्मेनिरे ॥ २८ ॥

आस योऽन्वर्थनामा नृपाणां वरो
भूसुराणां गवां सेवकः पालकः।
संसदः सर्वमान्याधिपत्यं गतः
श्रीलगोपालसिंहः स "खर्वा"-पतिः ॥ २९ ॥

वारिधावत्र पूर्णे बुधानां सतां
दुग्धवन्निर्मलस्वान्तसद्वाससाम् ।
मध्यशाली वरो वन्यमाली बभौ
शेषशायीव संसत्पतिः श्रीयुतः ॥ ३० ॥

वैदिको मङ्गलाचार उद्घोषितः
कार्यजातं सभायास्ततः प्रस्तुतम् ।
"दीन" पूर्वो "दयालु" र्गुरुर्वाग्मिनां
श्रावयामास कर्णामृतां वक्तृताम् ॥ ३१ ॥

संसदोः संगतिः स्वीकृताऽभूद्द्वयोः
श्रीमहामण्डलस्यापि पञ्जीकृतेः ।
सद्व्यवस्था तथाऽङ्गीकृतानुष्ठिता
सापि कालेन वाक्शीलविद्वद्वरैः ॥ ३२ ॥

ऐकमत्येन विश्वैः सभोपस्थितै-
स्तैः सदस्यैश्च विद्वत्प्रकाण्डैर्नृपैः ।
सत्य-सन्निष्ठ-निष्कामयोगीश्वरे
मण्डलस्याखिलः कार्यभारोऽर्पितः ॥ ३३ ॥

आगताचार्यपीठेश्वरैः साधुभिः
स्वाशिषां वर्षणं तत्र कार्ये कृतम् ।
धर्मसंग्रन्थनार्थं ददुर्वक्तृतां
येऽत्र पीयूषवाचो बुधाः संगताः ॥ ३४ ॥

धन्यवादा वितीर्णाः सदःस्वामिने
साधुवादाश्च विद्वद्वरेभ्यो भृशम् ।
हर्षगर्भैः शुभालोक-शब्दैस्ततः
पूर्णतामाप संसद्विधेयावलिः ॥ ३५ ॥

कुर्वतः सत्तपो योऽर्बुदे पर्वते
योगिराजस्य शार्दूलसिंहो नृपः ।
कृष्ण-दुर्गाधिपः सेवकत्वं गतः
तेन दत्तोऽधिवेशस्य तस्य व्ययः ॥ ३६ ॥

जोशिवंशोद्भवो यो बुधो माथुरो
माधवस्तस्य चापि व्ययोऽभूद्वसोः ।
आतिथेये सदस्यार्हणे मण्डली
चापि चक्रे स्वकीयाद् व्ययं कोषतः ॥ ३७ ॥

मण्डलस्याप्तमेतेन तत् केवलं
योगिना नाम, शिष्टं न किञ्चिद्धनम् ।
तेन सम्बन्धितं प्राक्तनं कर्गजं
नापि लेखान्वितं पुस्तकं किञ्चन ॥ ३८ ॥

योगिराजस्य भक्तैर्यदिच्छार्पितं
यद्धनं लभ्यते कार्यसंश्चालकैः ।
तेन, शिष्टैर्धनैर्मण्डली कोषत-
स्तस्य कार्यं समस्तं हिं सञ्चालितम् ॥ ३९ ॥

स्पृश्यते नैव किञ्चिन्न वा याच्यते
द्रव्यमेतेन तत्कार्यसञ्चालने ।
त्यक्तसर्वैषणेन स्वयं योगिना
तेन बाधा न साधारणी चापतत् ॥ ४० ॥

निन्दनं निन्दकानां भृशं श्रूयते
पण्डितैश्चार्थलुब्धैः परास्यते ।
किन्तु योगीश्वरोऽयं हि वारां निधिः
क्षुब्धतां नैव भेजे गभीराशयः ॥ ४१ ॥

ताडितः सन् घनैरग्निभिस्तापित-
शिच्छद्यमानस्तथा भिद्यमानोऽपि च ।
नैव चामीकरः स्वान् गुणांस्तात्त्विकान्
सञ्जिहीते न वा म्लानिमापद्यते ॥ ४२ ॥

निन्दनं वा स्तवो वाऽऽदरोऽनादरो
मानसं यस्य नोद्वेजयेद् धीमतः ।
सत्प्रतिष्ठापि विष्ठासमाना मता
येन जीवन् स मुक्तो यतिर्मन्यते ॥ ४३ ॥

धैर्यशाली सुमेरुर्गुरुर्योगिना-
माप्तकामो महीयान् महत्स्वस्ति यः ।
दुर्वचोभिस्त्वमीभिर्न दुःखं गतः
क्षोभमायाति किं वायुवेगैर्गिरिः ॥ ४४ ॥

योगनिष्णात - वैराग्यभाजा सता
सत्यकामेन विप्रर्षिणा चालितः ।
विघ्नबाधासहस्रे विधिर्धार्मिको
विद्यमानेऽप्यसावेधमानोऽभवत् ॥ ४५ ॥

व्यक्तिकल्याणहेतोः क्रियानुष्ठिता
निर्विभर्त्त्यैव सिद्धावसिद्धावपि ।
योग्यतां पौरुषं कर्मकर्त्तुं ध्रुवं
दृश्यते मानवै भूतलेऽहर्निशम् ॥ ४६ ॥

या क्रिया विश्वशश्वद्धिताधायिका ।
सैव जेगीयतेऽर्चा परस्यात्मनः ।
तद् विरुद्धं कृतं कर्म नानश्यते
सौरमालोकमालोक्य यद्वत्तमः ॥ ४७ ॥

काशिका - हिन्दुकालेज - संस्थापने
योगिवर्य्यस्य साहाय्यमासीत् परम् ।
कृष्णजन्मस्थले धर्मसम्मेलने
स्वीचकारेति गोविन्ददासानुजः ॥ ४८ ॥

तेन विद्वद्वरेण्येन वैश्यर्षिणा
हिन्दुकालेजनामा स विद्यालयः ।
श्रीमहामण्डलस्यैक उद्घोषितो
ज्ञानसञ्चालकः सद्विभागोऽपरः ॥ ४९ ॥

माननीयस्य विज्ञानवत्सन्मते-
र्मालवीयस्य विप्रर्षिवर्य्यस्य तम् ।
हिन्दुपूर्वस्य विश्वस्य विद्यालयं
स्थापितं कर्त्तुमासीन्मनीषा यदा ॥ ५० ॥

तत्र कृत्ये महर्षिर्महामोदभृत्
स्वीयसंसत्पतिं द्वारवङ्गेश्वरम् ।
मैथिलश्रेष्ठभूदेवमूर्ध्नि स्थितं
योजयामास कार्ये वसूनां चये ॥ ५१ ॥

द्वारि यद् वै हरस्यास्ति संस्थापितं
ज्ञानविज्ञानधाम्नामृषीणां कुलम् ।
तस्य सञ्चालकेष्वर्थसंग्राहके-
ष्वेप योगीश्वरो मूर्ध्नि संराजते ॥ ५२ ॥

संस्कृतस्याद्भुतो विश्वविद्यालयः
पूर्वमेतेन यो योगिना स्थापितः ।
नाम संगृह्य तस्यैव काश्यामहो
सर्वकारेण सञ्चाल्यतेऽसोऽधुना ॥ ५३ ॥

नात्र किञ्चिद् दरीदृश्यते भारते
धर्मविद्याप्रचाराय यत्स्थापितम् ।
कीर्त्तिमत् साधुलक्ष्यं च संस्थानकं
यत्र योगीश्वरस्यानुकम्पा न हि ॥ ५४ ॥

तीर्थराजे प्रयागे त्रिवेणीतटे
संव्यधात् तन्महाकुम्भके पर्वणि ।
आर्यपुंसां महाधर्म-सम्मेलनं
श्रीमहामण्डलीयं गुरुर्योगिनाम् ॥ ५५ ॥

धर्म-पीठाधिपा भारतस्याखिला
धर्मनेतार आजग्मुराप्ताः समे ।
भारतोद्धारकर्त्तार उन्नायका
राजनीतेश्च तत्राध्वरे धार्मिके ॥ ५६ ॥

मान्यतापत्रिकास्तैः समैरर्पिताः
श्रीमहामण्डलस्यादृता श्रेष्ठता ।
लोकमान्येन चागत्य संमेलिता
मालवीयेन या चालिताऽन्या सभा ॥ ५७ ॥

आर्यसामाजिकै ब्राह्मसामाजिकैः
स्वप्रचारेण नूनं हि सा रक्षिता ।
आर्यजातिः, परन्त्वेभिरामर्दितं
धर्मसत्यस्वरूपं हि तद्दुःखदम् ॥ ५८ ॥

शाश्वतस्यार्यधर्मस्य तद् भूतले
भिन्नभिन्नाङ्गमाश्रित्य चोत्पेदिरे ।
यन्मतानीह, तत्खण्डनं नोचितं
मन्यते स्मेत्ययं सत्यदर्शी प्रभुः ॥ ५६ ॥

ज्ञानशून्यैस्तनूजैश्च योयुध्यते-
ऽन्योन्यमन्यैस्तथा मातृतः पितृतः ।
किन्तु माता पिता चापि तेषां हितं
कर्त्तुमेव प्रवृत्तौ सदा वीक्षितौ ॥ ६० ॥

खण्डनं नैव कार्यं मतानां क्वचित्
तत्तदन्योन्यसंघर्षणं कुर्वताम् ।
किन्तु सिद्धान्तवादः स्वधर्मादृत-
स्तस्य नूनं प्रचारो विधेयो बुधैः ॥ ६१ ॥

लक्ष्यमेतत्स्थिरीकृत्य संख्यातिगा
भाषणं कर्त्तुमर्हा गृहस्था स्तथा ।
त्यागिनः साधुसंन्यासिनो त्त्तिमाः
प्रस्तुताश्चक्रिरे तेन विज्ञानिना ॥ ६२ ॥

धर्मसञ्चार-शिक्षां श्रुतेः सम्मतां
युक्ति-युक्तां महर्षिः स्वयं शिक्षयन् ।
प्रेषयामास सर्वत्र शिष्यान् निजान्
येन धर्मस्य रक्षा स्वत्रोभूयत ॥ ६३ ॥

ब्रह्मशक्तिर्यदा क्षत्रशक्तिं श्रयेल्-
लोकरक्षा तदा शाश्वती सम्भवेत् ।
इत्यवेत्यैष योगीश्वरः सद्गुरुः
क्षत्रियाणां समुन्नायने संरतः ॥ ६४ ॥

राजनीतिर्यदा साधु सङ्गच्छते
धर्मनीत्या तदा स्यात् प्रजानां हितम् ।
एतयोः साहचर्य्यं विना भारते
सत्यमुत्थानमाकाशपुष्पायते ॥ ६५ ॥

धर्मनिर्णायकाः केवलं ब्राह्मणाः
क्षत्रियाः सन्ति तत्पालकाः सर्वथा ।
आर्षमेतन्मतं पूर्वजैरादृतं
साम्प्रतं चापि तत्पाल्यमित्याशया ॥ ६६ ॥

दुष्प्रधृष्या जगत्स्वादिकालात् कलेः
क्षात्रशक्तिर्वितान्योन्य-संघर्षतः ।
क्षीणतामाप्नुवन्ती ह्रसन्ती सदा
नैव संहत्य कार्यं विधत्ते निजम् ॥ ६७ ॥

क्षत्रिया भिद्यमाना इदानीन्तनाः
सम्भवेयुर्न यावत् पुनः संहताः ।
उन्नतिर्नैव तावद्धि सम्पत्स्यते
शाश्वतस्यास्य धर्मस्य देशस्य वा ॥ ६८ ॥

विष्णुना चाखिल-प्राणिहृद्वर्त्तिना
प्रेषिताः क्षत्रियाः केचिदाववजुः ।
उद्दिधीर्षोरमुष्यार्यजातिं स्वयं
वन्दनीयाङ्घ्रि-पङ्केरुहस्यान्तिकम् ॥ ६९ ॥

प्राहुरेते महाज्ञानशालिन् प्रभो
क्षत्रियाणामिदानीन्तनानां विभो ।
केन भावेन भोः सम्भवेदुन्नति-
र्दीयतामात्मनो देव सत्सम्मतिः ॥ ७० ॥

धर्म्यवाचं समाकर्ण्य कर्णामृतां
प्राशशंस प्रभुः सद्वचोभिर्भृशम् ।
प्रोक्तवान्-क्षत्रियाणां हिताधायिका
भारतव्यापिनी संसदाचर्यताम् ॥ ७१ ॥

वासना धार्मिकीयं सतां सम्मता
युष्मदीया शुभा नूनमासेत्स्यति ।
योगदानं च मोमुद्यमानो ह्यहं
संविधास्ये प्रयत्नेन शस्तात्मना ॥ ७२ ॥

प्रैरयद् धार्मिक-प्रातिनिध्यं गतं
चैकमायोगमध्यात्मविद्यागुरुः ।
कान्तिमत् खण्डमेकं दिवः कौ स्थितं
प्राकृतश्रीलकाश्मीरमिद्धं पुरम् ॥ ७३ ॥

कोटिशो राजपुत्रा हिमानी-पतेः
प्रान्तरे शोभने वासमातन्वते ।
आदरस्थानमास्ते समेषां परं
रम्यकाश्मीरभूमीश्वरो धार्मिकः ॥ ७४ ॥

श्रीमहामण्डलस्यैक आयोगको
हेतुनाऽनेन काश्मीरराजान्तिकम् ।
सुप्रतस्थे प्रकृष्टैर्विपश्चिद् वरै-
र्भूसुरैः श्रोत्रियक्षत्रियैः संयुतः ॥ ७५ ॥

'रायरायान्' उपाधिं प्रसिद्धं दधत्
'लाहिडी' लाञ्छनोवाग्मिनां वन्दितः ।
'कान्त' आसीद् वरस्य प्रदायास्तु यः
श्रीमहर्षेः सुहृत् तस्य विश्वासभूः ॥ ७६ ॥

नायकोऽमुष्य चायोगकस्याभवत्
मुख्य उन्नायको जातिधर्मस्य यः ।
तेन तद्गौरवं वृद्धिमाप्तं परां
मोदहेतुर्बुधानां स्वयोभूयत ॥ ७७ ॥

प्राप्तमायोगमेतं वदान्यो नृपो
राजसिंहः स कश्मीरराज्याधिपः ।
इन्द्रपूर्वो महेन्द्रप्रतापाभिधो
व्याजहार प्रमोदेन सुस्वागतम् ॥ ७८ ॥

सर्वलोकैकमान्येन सम्पादिते
क्षत्रियाणां महत्यत्र सम्मेलने ।
राजपुत्रप्रदेशादनेके नृपा
हैमदेशाच्च सर्वे समाव्रज्ञुः ॥ ७९ ॥

सादरैरर्हणैर्दानमानादिभिः
सर्वराजन्यवर्गं स काश्मीरराट् ।
भारतस्यागतं सर्वतः प्रान्ततो
वासयामास हर्म्येषु नैजेषु तम् ॥ ८० ॥

शेखरै रम्यरत्नप्रकाशाश्चितै-
र्भूभृतां यस्य पादाम्बुजं शोभनम् ।
नित्यमेवेहनीराजितं जायते
तत्र चानायि योगीश्वरोऽयं नृपैः ॥ ८१ ॥

प्रातिनिध्यं गते विश्वसद्भूभृतां
साध्वनुष्ठीयमानेऽत्र सम्मेलने ।
सन्मतानि ह्यनेकानि भूमीश्वरैः
स्वीकृतानि स्वभूवन् हितप्रेप्सुभिः ॥ ८२ ॥

लुप्ततां यस्तु संस्काररशिर्गतो
म्रियते क्षत्रियाणां प्रसिद्धश्चिरात् ।
चालनीयः प्रयत्नेन साधीयसा
सर्वमत्यैष सुप्रस्तवः स्वीकृतः ॥ ८३ ॥

भूतलेऽस्मिन् सदाचारवन्तो नृपा
भारते यत्र कुत्र स्थिता येऽपि च ।
तैः समं भोजनं गोत्रवर्जं तथा
पाणिपीड़ा च सर्वादृता स्वीकृता ॥ ८४ ॥

क्षत्रियाणां महासंसदेषा भवेत्
श्री महामण्डलस्याज्ञया चालिता ।
तेन संस्थाप्य सम्बन्धमस्यावलं
वर्धनीयं मतं चेत्यभूत्स्वीकृतम् ॥ ८५ ॥

विष्वक्प्रान्तसमागत-क्षितिभुजां सम्मेलने संस्तुते ।
सानन्दं परिपूर्णतामुपगते श्रीयोगिराजाज्ञया ॥
सर्वे संहतिभोजनं विदधिरे प्रीत्या महत्त्याऽन्विताः ।
जग्मुस्ते स्वपुराणि हृष्टमतयः काश्मीरराजादृताः ॥ ८६ ॥

॥ इति श्री कविवर्य विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्रिविरचिते महर्षि श्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये षोडशः सर्गः ॥



॥ अथ सप्तदशः सर्गः ॥

इंग्लैण्डदेशवसतिर्ब्रिटिशाख्यजातिः
सद्राजनीतिकुशला विततप्रभावा ।
साम्राज्यमस्ति भुवनेऽतिमहत्तदीयं
सूर्यो न यत्र हि कदाप्युपढौकतेऽस्तम् ॥ १ ॥

तद्देशवासिकुटिलाशय - मानवानां
व्यापारसाधनपटुर्बलशालिनी च ।
"इस्टइण्डिया" पदसमन्वित "कम्पनी" सा
वर्षे यदा च भरतस्य समाजगाम ॥ २ ॥

तत्कालभारतदशा नितरां विचित्रा
सर्वैः परस्परमहो कलहायतेस्म ।
तत्कम्पनी मनुतनूजनुषाऽजिदुष्टा
छिद्रं निरूप्य मशका इव संप्रविष्टा ॥ ३ ॥

छद्मावलम्ब्य कुहचित्कवनच्छलं च
सर्वत्र भारत इमे शनकैः प्रसृप्ताः ।
आस्थापयन् प्रबलशासनमात्मनीनं
नैतत्परोक्षमितिवृत्तविदां बुधानाम् ॥ ४ ॥

वासांस्यशीतिकरयुग्ममितानि यानि
ढाकाप्रदेशजकुविन्दविनिर्मितानि ।
एकत्र वंशलघुपर्वणि रक्षितानि
नाम्नाम्बराणि कथितानि न, कर्मणापि ॥ ५ ॥

आंग्ला नराकृतिधरादितिजा जघन्याः
क्षुद्राशया वरकुविन्दकराङ्गुलीनाम् ।
क्रूराः कदर्यहतकाः किलकम्पनीस्था-
श्चक्रुः करालकृतयो बत कर्त्तनानि ॥ ६ ॥

इंग्लैण्डदेशवसनस्य समस्तदेशे
"मैन्चेस्टर" स्थनिजयन्त्रविनिर्मितस्य ।
व्यापारतो बहुधनागमवाञ्छया ते
कर्माण्यकार्षुरधमेद्दशकुत्सितानि ॥ ७ ॥

लक्षाधिकान् नरवरान् गुणिनो बहुज्ञान्
निर्दोषशान्तसुमतीः शतशः स्त्रियश्च ।
सन्देहतोऽपि च निजाननुकूलताया
हा हन्त हन्त पशुमारममारयन्त ॥ ८ ॥

वृत्तान्तमेतमधिगत्य दयार्द्रचित्ता
व्यक्तोरुविक्रमवती वृटिशस्य राज्ञी ।
तद्धस्ततो वरभुवो भरतस्य राज्य-
माच्छिद्य सा निजमधीनमरं व्यधत्त ॥ ९ ॥

विक्टोरियाह्वयवती खलु सैव देवी
साम्राज्यसूत्रपरिचालन-दक्षहस्ता ।
राज्यं समस्तभुवनादृतसत्स्वभावा
वर्षाणि या त्र्यधिकषष्टिमितान्यकार्षीत् ॥ १० ॥

गङ्गाधरस्तिलकभूसुरवंशजन्मा
बालाह्वयोऽपि वरविद्वदबालमेधाः ।
वीराग्रणीः प्रथममत्र समुज्जुघोष
स्वातन्त्र्यमस्ति मम जन्मगतोऽधिकारः ॥ ११ ॥

देशं स्वकीयमनघं स हि पारतन्त्र्य-
पाशाद् विमोचयितु मैच्छदनेकयत्नैः ।
तेनातिरुष्टमनसामिह शासकानां
क्रोधस्य भाजनमभूत् कुटिलाशयानाम् ॥ १२ ॥

दुःशासकैर्बहुविधैर्विनिवारितोऽपि
तत्याज नैव निजजन्मभुवः स सेवाम् ।
मन्युप्रदीप्तमतिभिर्मलिनान्तरङ्गैः
कारालयातिथिरहो बत तैरकारि ॥ १३ ॥

कारागृहं ह्यधिवसन् प्रथमो यतीनां
ग्रन्थान् महामहिमशालिन आबबन्ध ।
तद्दर्शनेन गुणगृह्य तयाऽतिसाध्वी
साऽमोचयद् द्रुतमिमं किल बन्धगेहात् ॥ १४ ॥

तस्याः प्रजासु हि बभूव परानुरक्ति-
र्भक्तिश्च साधुषु सुधीषु च सज्जनेषु ।
सम्राडभूदिह न कोऽपि च तत्समानो
यः स्यात् समो निजपरेषु हि तत्कुलेषु ॥ १५ ॥

आसीदियं सकलधर्मसमानदृष्टि-
स्तस्याः प्रजापरिजनेष्वसमान दृष्टिः ।
सा दैवदुर्विलसिताद् द्युनिवासभूयं
प्रागात्ततो निखिलभूमिरियं चिखेद ॥ १६ ॥

तस्याः सुतो भवति सप्तम एडवर्डः
साम्राज्यपीठवरधूर्वहनाधिकारी ।
तद् राज्यरोहणविधिं शुभमाकलय्य
दिल्ल्यां महोत्सवविधानविनिर्णयोऽभूत् ॥ १७ ॥

तस्मिन् वरे ह्यवसरे स च योगिराजः
श्रीमण्डलीयमधिवेशनमाततान ।
पीठेश्वराश्च शतशश्च सहस्रशश्च
तत्राधिपा बुधवरा उपतस्थिवांसः ॥ १८ ॥

राज्याधिरोहणशुभावसरे प्रयुक्तात्
तस्मान्महामहिमशालिमहोत्सवाच्च ।
विख्यातिमाप भुवि धार्मिकसंसदेषा
कार्ये निजे सफलतामधिकां प्रपेदे ॥ १९ ॥

द्वारे हरस्य शुचिधामनि तीर्थराजे
मुम्बापुरे च कलिकान्तकपत्तनेऽपि ।
अस्या बभूवुरविमुक्तपुरे च काश्यां
संख्यामतीत्य सुविशाल महोत्सवा ये ॥ २० ॥

तेषूत्सवेषु महिताः स्वमहामहिम्ना
स्वाधीनतामुपगता वरभूमिपालाः ।
शिष्यन्त इद्धयशसो न हि केचिदाप्ता
यैस्तत्सभापतिपदानि न भूषितानि ॥ २१ ॥

प्रान्तेषु तेषु निखिलेष्वपि भारतस्य
शाखासभाः सनियमं गमिताः प्रतिष्ठाम् ।
प्रासर्पदाभिरिह मण्डलशुभ्रकीर्त्तिः
सर्वत्र दिक्षु च विदिक्षु सुधेव चान्द्री ॥ २२ ॥

धर्मप्रचार परिरक्षण हेतुभूत-
पीठानि यानि रचितानि चतुर्दिशासु ।
चत्वारि शङ्करयतीन्द्रवरेण देशे
तेषूत्तरस्थमिह पीठमभूत्प्रणष्टम् ॥ २३ ॥

तीर्थं वरं वदरिकाश्रममभ्युपेत्य
संपर्य्यटंस्तत इतश्च परिश्रमेण ।
स्थानं पुरातनमवाप्य यतीन्द्रवर्य्यः
पीठं तदुत्तरदिशाद्दतमुद्दधार ॥ २४ ॥

तत्राश्रयं सुविरचय्यमनोज्ञशालं
सर्वर्त्तुसौख्यजनकं च परं विशालम् ।
ब्रह्मस्वरूपमनघं यतिराजवर्य्यं
प्रातिष्ठिपन्महति तत्र विविक्तपीठे ॥ २५ ॥

शिष्यस्तदीय इह यः करपात्रनामा
विद्वत्तया च तपसा च विरागभाजा ।
त्यागेन निर्भयतया च गुणैरनेकैः
ख्यातः सदाह्यवति भारत संस्कृतिं सः ॥ २६ ॥

पीठस्य तस्य किल शिष्यपरम्परासु
सद्विद्ययाऽधिगत शाश्वतकृष्णबोधाः ।
आविर्भवन्त्यखिलपूज्यमहेश्वराद्या-
नन्दाः प्रसिद्धयशसः शतमाप्तबोधाः ॥ २७ ॥

इत्थं महामहिमवद् वदराश्रमस्थं
ज्योतिर्मठं विलुलितं महता श्रमेण ।
उद्धृत्य तस्य च चकार शुभां व्यवस्थां
बोभूयते जगति येन च धर्मरक्षा ॥ २८ ॥

द्वारावती-विलसितं किल शारदाख्यं
शृङ्गेरिकाह्वययुतं प्रथितं पृथिव्याम् ।
गोवर्धनं च पुरुषोत्तमधाम्नि संस्थं
पीठत्रयं कृतमनेन हि सुव्यवस्थम् ॥ २९ ॥

वैधर्मिक - प्रहृति - रक्षण - दुर्गरूपं
श्रीशङ्करेण यतिना प्रतिदिग्वरेण्यम् ।
संस्थापितं जगति पीठचतुष्टयं यत्
चक्रे यथा समयमेष हि तद्व्यवस्थाम् ॥ ३० ॥

अन्योन्यभिन्नमतसंकुल - सम्प्रदाया-
चार्यान् परस्परमहो कलहायमानान् ।
सर्वान् निजप्रखरबुद्धिबलेन योगी
केतोः सनातनतनोस्तलमानिनाय ॥ ३१ ॥

वेदान्तमेकमवलम्ब्य समुद्गताये
वादा लसन्ति भुवि विप्रतिपन्नरूपाः ।
अत्यद्भुतप्रखरशक्तिधरः समेषां
सत्यं समन्वयमसौ भगवानकार्षीत् ॥ ३२ ॥

कर्मैव केऽपि सुधियो वरमामनन्ति
भक्तिं परस्य पुरुषस्य च केचिदन्ये ।
ज्ञानं परे च कतिचित्परमाद्रियन्ते
छत्रं समन्वयवतोऽस्य समेऽपिभेजुः ॥ ३३ ॥

ये निर्गुणे पथि सदा विचरन्ति सन्तः
पीठाधिपाःपरमवैष्णव-शाक्त-शैवाः ।
अन्येऽप्युदासियतयः शितबोधशुद्धा
बुद्धा मठाधिपतयो विपुलश्रियश्च ॥ ३४ ॥

आचार्यसुप्रसृतपीठमधिष्ठिता ये
श्रीमन्महामहिमशालिन ईश्वराश्च ।
नानामताहतविपश्चिदपारबोधाः
संरक्षकत्वम भजन् भुवि मण्डलस्य ३५ ॥

वर्णाश्रमान्वितसनातनभारतीय-
सम्पूर्णहिन्दुजनतैकवरिष्ठसंसत् ।
श्रीकृष्णजन्मनगरादविमुक्तधाम
वाराणसीं सुसमयेन समाजगाम ॥ ३६ ॥

अत्रापि सा त्रिविधदेशमुपाश्रयन्ती
स्वाधीनसद्मविरहेण परं चिखेद ।
कष्टं तदीयमपहर्तुमना यतीन्द्रः
क्रेतुं तदर्थमिह सन्निलयं प्रवृत्तः ॥ ३७ ॥

रम्यप्रकृष्टजगदाह्वयगञ्जदेश-
चञ्चच्चतुष्पथविराजितपूर्वभागे ।
लक्ष्यं विचित्य यतिना निजसेवकेभ्यः
क्रीतः सदासुखकरः सुविशालसौधः ॥ ३८ ॥

राजन्ति तत्र वरसद्मनि संसदोऽस्याः
कार्यालयाश्च शतशोऽप्यथ तद्विभागाः ।
आश्रित्य यान् प्रतिदिशं प्रसरत्प्रभावान्
सम्भोभवीति हि सनातनधर्मरक्षा ॥ ३९ ॥

संस्थापिता बहुविधा बहवो विभागा
ये धर्मसंस्कृतिसुरक्षणबद्धकक्षाः ।
तेषामनेकविधरूपतया स्थितानां
संक्षेपतोऽध उचिता क्रियतेऽत्रचर्चा ॥ ४० ॥

शास्त्रप्रकाशक इहास्ति विभाग एको
ग्रन्था यतः समुदितास्तु परःसहस्राः ।
येषामहो सुमननाध्ययनेन नूनं
हार्दभ्रमाः सुमनसामपि यान्ति दूरम् ॥ ४१ ॥

क्लिश्यन्ति ये धनवियोगवशाज्जगत्यां
गत्यन्तराश्रयणतोऽपि न सिद्धिभाजः ।
तेषां हिताय यतिनाऽत्र वरेण्यदान-
भाण्डार नामकनिधीरचितोऽस्त्यमोघः ॥४२॥

विद्यार्थिनश्च सुधियोऽप्यथ साधवश्च
ये धर्म संस्कृतिहिताय हि यत्नशीलाः ।
अन्ये विपन्नमनसो विधवास्त्रियश्च
साहाय्यमर्थनिवहस्य यतो लभन्ते ॥ ४३ ॥

विद्यानिकेतमठतीर्थसुरालयानां
सर्वत्र भारतभुवीह विराजितानाम् ।
तेषामजस्रपरिरक्षणपूर्वकं हि
दोषानपास्य सुखदा क्रियते व्यवस्था ॥ ४४ ॥

यज्ञार्थमेव रचिताः कमलोद्भवेन
गावः, सुरक्षितमिदं भुवनं च याभिः ।
तत्पालनार्थमपि साधुविभाग एकः
सञ्चालितोऽत्र विशदः सुविलालसीति ॥४५॥

कल्पागमश्रुतिपुराणनिरुक्तवार्ता
व्याकृत्कलागणितशिक्षणपद्धतीनाम् ।
विज्ञानदर्शनततेःश्रुतिरेवमूलं
तस्मात्तदध्ययनसाधुविधिः कृतोऽत्र ॥ ४६ ॥

स्वार्थप्रसाधनविवर्जितकर्मजातं
देवर्षि पितृनरजीवहिता क्रिया वा ।
अन्तर्जगत्सुपरितृप्तिकरं च कार्यं
यज्ञ स्त्ववोचि च परोपकृति र्मुनीन्द्रैः ॥ ४७ ॥

यज्ञेन तुष्टिमधियन्ति दिवौकसस्ते
यज्ञेन तृप्यति सदैव हि पितृसङ्घः ।
यज्ञेन तुष्यति समस्तमहर्षिवृन्दं
तस्मात्तमेव मुनयः परमं वदन्ति ॥ ४८ ॥

सम्मानयध्वममुना मनुजा अमर्त्यान्
मर्त्यांश्च तेऽपि मुदिता भुवि भावयन्तु ।
श्रेयः परस्परहितेन भजन्तु सर्वे
गीतागुरुः स भगवान् स्वयमित्युवाच ॥४९॥

सद्बोधमर्पयति सन्नृपिरेप तृप्तः
देवोऽपि दैवमनुकूलयते शुभाय ।
गोपायते पितृ गणोऽपि च सन्ततीस्ता
येनात्र जीवति चिरं भुवि हिन्दुजातिः ॥५०॥

इत्थं विचिन्त्य वरमण्डलसद्मनीह
श्रीयोगिना विरचिताऽद्भुतयज्ञशाला।
यागाश्च यत्र हि भवन्त्यभवन्ननेके
येषां भुवा तु गणना कविबुद्धिवाह्या ॥ ५० ॥

तन्त्रश्रुतिस्मृति पुराणसमादृतानां
लक्षाधिकव्ययसुसाधितसत्क्रतूनाम् ।
योगीश्वरस्य दयया बहुसंख्यकानां
काश्यामनुष्ठितिरभूत् क्रतुमण्डपेऽत्र ॥ ५२ ॥

नैमित्तिका बहुविधा जनताहिताय
नित्याश्च यागनिवहाः श्रुतिविश्रुता ये।
सञ्चालिता यतिवरेण पुरा कदाचित्
तेऽद्यापि सन्ति सततं परिचाल्यमानाः ॥ ५३ ॥

आध्यात्मिकप्रथितधार्मिकविश्वविद्या-
पीठं प्रतिष्ठितमनेन महर्षिणाऽत्र ।
अध्यात्मधर्मयुतराजसमाजनीति-
ग्रन्थानधीत्य ददते सुधियः परीक्षाः ॥ ५४ ॥

उत्तीर्णतां ह्यधिगतेषु च यैर्बुधेन्द्रैः
शास्त्रोच्चयान्वितवरेण्यपरीक्षणेषु ।
प्रत्यब्दमेव खलु ते सदुपाधिपत्रैः
साकं वसूनि पदकानि च संलभन्ते ॥ ५५ ॥

संराजतेऽत्र यतिराड्रचितं प्रशस्तं
वैदुष्यविश्रुतधियां मुनिवाससद्म ।
प्रातश्च सायमपि नित्यसमुष्य साधो
र्यत्र स्थिताश्चरणधूलिमुपाश्रयन्ते ! ॥ ५६ ॥

वेदादिशास्त्रपरिशीलनतः समुत्थ-
मज्ञानराशिमपनोदयितुं समेताः ।
तस्यो पदेशमधिगत्य लसत्प्रकाश
स्वान्तस्थ संशयतती रपसारयन्ति ॥ ५७ ॥

विश्वादृतप्रथितसंस्कृतवाङ्मयानां
वेदादिशाश्वतिकशास्त्रसमुच्चयानाम् ।
सांसारिकान्यविधभाषितपद्धतीनाम्
ग्रन्थांश्च लक्षमिह सञ्चितवान् यतीन्द्रः ॥ ५८ ॥

तान् नित्यशस्तु समधीत्य परः सहस्रा
धर्मप्रचारनिरता यतिपादमूलात् ।
व्याख्यानदानपटवस्तुतशेमुषीकाः
संन्यासिनः समवसन् गृहमेधिनश्च ॥ ५९ ॥

प्रान्तेभ्य आगतवतां भरतस्य भूमेः
सर्वेभ्य एव विदुषामुपतिष्ठते स्म ।
सम्मर्द औपनिषदाध्ययनाय नित्यं
यस्मिन् सदाऽप्रतिहतं लभतेस्म वासम् ।। ६० ।।

अध्युष्य पण्डितनिवासममुं प्रकामं
श्रीमन्महर्षिचरणाब्जमुपासमानः ।
आतिथ्यमर्चनमवाप्य सुसत्कृतः सन्
वोभूयतेऽप्यहरहो नितरां कृतार्थः ।। ६१ ।।

धर्मप्रचारकबुधाः शतशो वरेण्या
व्याख्यानदान पटवो भरतस्य भूमौ ।
अस्मादधीत्य वरवैदिकधर्मतत्त्व-
सञ्चारणे समभवन् विधिवत्प्रवृत्ताः ।। ६२ ।।

आकर्ण्य सत्पथजुषामुपदेशकानां
विज्ञानवद् विविधयुक्ति समन्वितां ताम् ।
शास्त्रार्थतत्त्वभरितामुपदेशवाणीं
नैच्छन् सुधामपि बुधाः परितृप्तिमाप्ताः ।। ६३ ।।

शिष्यप्रशिष्यनिवहेष्विह यस्य साधोः
सज्ज्ञानराशिसुचमत्कृतसर्वलोकाः ।
अद्यापि हिन्दुभुवनेऽप्यथ तद्बहिश्च
लक्ष्यन्त इद्धयशसः शतशः सुधीन्द्राः ।। ६४ ।।

बह्व्यः स्त्रियः प्रकृतितोजडतामुपेता
विज्ञानबोधलवलब्धिसुदुर्विदग्धाः ।
यद्वन्दनीयचरणाम्बुजरेणुसिक्ता
गार्गीः हसन्ति नितरां निजबोधदृप्ताः ।। ६५ ।।

सत्　ब्रह्मतत्त्वविमलीकृतमानसस्य
　　ज्ञानप्रमोदघन कीर्त्तिमतश्च सत्यम् ।
कः कीर्त्तयेत् कविरमुष्य यशःप्रकर्षं
　　हेमायतेऽधममयोऽपि यदङ्घ्रिजुष्टम् ६६ ॥

तत्तद्विभागपरिचालनहेतुभूता
　　अर्थाः पदं यतिपते रुपतस्थिवांसः ।
लोकोपकारनिरतस्य नरस्य साधोः
　　सामीप्यमश्नुति परं स्वयमेव लक्ष्मीः ॥ ६७ ॥

सर्वैर्नृपैः सुमतिभिर्वसुदानपत्रा
　　ण्यालिख्य योगिचरणाम्बुजमर्पितानि ।
हेतोरतो निखिलकार्यविभागकानां
　　सञ्चालने यतिपतिः सम्मुखं प्रवृत्तः ॥ ६८ ॥

खैरीगढस्य वरधार्मिकराजलक्ष्मी
　　नाम्नाबभूव सुरथस्य कुमारिका या ।
लक्षाणि यानि च ददौ गुरुदक्षिणायां
　　तान्यर्पितानि यतिना किल धर्मकृत्ये ॥६९॥

सर्वज्ञतामुपगतस्य सुदुर्लभस्य
　　योगीश्वरस्य चरणाम्बुजमाप्रपन्नाः ।
राज्ञो नृपाश्च बहवोऽपि च मन्त्रदीक्षां
　　शश्वद्विनीतमतयो जगृहुःप्रसन्नाः ॥ ७० ॥

ताभिश्च तैरपि गुरोश्चरणारविन्दे
　　निष्कामकर्मनितस्य महामहर्षेः ।
राशिः श्रियां सविनयेन समर्पितो यो
　　न्यक्षेपि तेन सकलोऽपि च धर्मगुप्त्यै ॥ ७१ ॥

सत् सर्वधर्मसदनं रचितुं समीहा
काश्याममुष्य यतियोगिपतेरिहासीत् ।
नित्यर्षिसत्पदमनारतमास्थितस्य
सम्पत्स्यते ध्रुवमदोऽपि तदिङ्गितेन ॥ ७२ ॥

पारस्यबुद्धजिनख्रष्टमहम्मदाना-
मन्योन्यसत्प्रणयभावमुपागतानाम् ।
हिन्दुष्वपि प्रथितविश्वमतान्तराणा-
मेकत्र यत्र भविता स्वमतप्रकाशः ॥ ७३ ॥

बह्व्यो वसन्ति भुवनेष्विह जातयोऽन्या
या आश्रयन्ति बहुधा विविधांश्च धर्मान् ।
धर्मान्तराश्रयवती निजभिन्नजातीः
सम्प्रद्विषन्ति कलहाननिशं भजन्ते ॥ ७४ ॥

व्याधिः प्रसर्पति निरन्तरमेव शोष-
रूपः समस्तभुवनं परितो जिघत्सुः ।
तत्त्राणदाननिलयो भुविसर्वधर्म-
सद्मैव नास्तिकिलरम्यविधिस्तदन्यः ॥ ७५ ॥

शश्वत्सदाचरणमूलमिहास्ति धर्म-
स्तस्मादृते तु मनुजा दनुजाभवन्ति ।
एतद्विचिन्त्य यतिना मनसा प्रकृष्टा
ग्रन्था विलिख्य शतशो गमिताः प्रकाशम् ॥ ७६ ॥

एतानधीत्य वटवोऽथ युवान एव
कक्षासु विष्वगधमोत्तममध्यमासु ।
उन्नाययन्तु भुविभारतवर्षमेतत्
स्वं धर्मजन्यभुवनं च कृतार्थयन्तु ॥ ७७ ॥

संस्थापिताऽऽर्यमहिला परिषद्वरेण्या
विद्यालयश्च सुमहानपि बालिकानाम् ।
एतद्द्वयीं समधिकृत्य निरन्तरेण
धर्मप्रचार इह सिध्यति मातृजातौ ॥ ७८ ॥

प्रान्तेभ्य आगतवतां द्विजबालकानां
प्रत्यब्दमेव नवरात्रशुभे मुहूर्ते ।
काशीस्थवैदिकवरैः सुनिमन्त्रितैस्तै-
र्निर्वर्त्यते सदुपनीतिविधिश्च तत्र ॥ ७९ ॥

संशिक्षणं च किल दर्शनपद्धतीनां
सूत्रानुसारि शुभकारि पुरातनं यत् ।
लुप्तं दयापरवशः पुनरुद्दिधीर्षु-
स्तत्पाठनक्रमविधिं कथयाञ्चकार ॥ ८० ॥

देशेषु जातिषु तथा परधर्मभृत्सु
सर्वत्र साधुपुरुषा गुणिनो भवन्ति ।
तेषां सतां च सुधियां गुणपूजनं च
ह्यभ्यर्चनं भगवतो भवतीति मत्वा ॥ ८१ ॥

सञ्चालितोऽस्ति शुभसद्मनिमण्डलस्य
सम्मानदाननिरतश्च विभाग एकः ।
योगीश्वरेण, यत एव विदांवरेण्या
ज्ञानानुरूपमधियन्ति वरानुपाधीन् ॥ ८२ ॥

हिन्दीं तथा सुरगवीमथ चाङ्ग्लभाषा-
माश्रित्य धर्मजगतः परिशीलनाय ।
अन्योन्यसम्मतहितप्रदसन्मतानां
सञ्चारणाय यतिराड् विदधे प्रयत्नान् ॥ ८३ ॥

भाषां यतिर्बहुविधामनुसृत्य भूयः-
पत्राण्यनेकविधबोधदपत्रिकाश्च ।
सप्ताहपक्षमथमासमृतुं प्रपद्य
लक्ष्व्ययं सुविदधत् प्रथयाश्चकार ॥ ८४ ॥

प्रज्ञोन्नतप्रथितभारतवर्षसर्व-
प्रान्तेभ्य एव परिलब्धजनुस्त्वहेतोः ।
स्थालीपुलाकवदथापि विचिन्त्य नूनं
तन्नामकीर्त्तनमतीव हि दुःशकं मे ॥ ८५ ॥

मायापदं सुदधतीह महादिकापि
ह्यासीत्, तदाह्वययुतं निधिमारचय्य ।
प्राप्तो ह्यनन्तधनराशिरनेन तस्याः
सर्वोऽप्ययोजि च सनातनधर्मकार्ये ॥ ८६ ॥

भूदेव-भूवलयनाथ-विशश्च लोकाः
संकीर्तिता मनुतनूजनुषो द्विजा हि ।
यज्ञोपवीतवहनेष्वधिकारिणस्ते
नान्ये तु केचिदिति वेद विनिर्णयोऽस्ति ॥ ८७ ॥

एतत्त्रयेऽपि यदि कश्चन दीर्घकालं
यावद् वसेद् यजनसूत्र विहीनगात्रः ।
त्रैवर्णिको निजविधेयविधानशून्यो
व्रात्यो मतो द्विजविधौ न हि सोऽधिकारी ॥ ८८ ॥

आसुस्तदीयपुरुषाः प्रपितामहाद्या
अज्ञातवंशनिवहाश्च परम्परातः ।
यज्ञोपवीतरहिता भुवि चात्र वृद्ध-
व्रात्याः श्रुतौ निगदिता द्विजधर्मबाह्याः ॥ ८९ ॥

अज्ञातकालत इहापुरनार्यभाव-
माचारतोऽपि च तथैव विचारतोऽपि ।
व्रात्येषु वृद्धपदवीमपि धारयन्तो
व्रात्यत्वशुद्धिमखिला अधिगन्तुमर्हाः ॥ ९० ॥

एतादृशां द्विजविधेयबहिष्कृतानां
व्रात्यत्वपापपरिशोधनपूर्वकं हि ।
तत्तद्विशुद्धनिजजातिसमाजमध्ये
स्यात् संनिवेश इति शास्त्रविदो वदन्ति ॥ ९१ ॥

सिद्धान्तमेतमवलम्ब्य यतीन्द्रमुख्यो
व्रात्यत्वदोषदहनं विधिनाऽऽहतेन ।
आस्थापयत् द्विजहिताय विभागमेकं
येनार्यसंस्कृतिरियं चिरजीविनी स्यात् ॥ ९२ ॥

द्विस्त्रिःशतादपि च हायनतस्तुपूर्वं
केचिद् बलेन यवनत्वमधिप्रपन्नाः ।
ते क्षत्रिया भुवनविश्रुतराजपुत्र-
देशेऽवसन् हि मलकानकनामधेयाः ॥ ९३ ॥

ख्यातिंगतैगिरिधरादिविपश्चिदग्र्यै-
स्तैरन्नदाचरणशर्मभिरप्यनेकैः ।
सत्तल्लजैश्च सुधियां हि महामहोपा-
ध्यायैरकारि मलकानकशुद्धिरेषा ॥ ९४ ॥

शास्त्रोचितान्यखिलपापहराणि प्राय-
श्चित्तानि तानि विधिवत् किल कारयित्वा ।
संशोधिताः सुरसरिज्जलनामशक्त्या
संमेलिताश्च सकला निजशुद्धजातौ ॥ ९५ ॥

खृस्ते त्रियुग्मनवभूमिमिते च वर्षे
याह्यागरापुरि शिवाख्यनिवासभूमौ ।
धर्मान्तरं गतवतां किल हिन्दुनॄणां
संस्कारकारिसमितेरभवत्प्रतिष्ठा ॥ ९६ ॥

योग्यः स्वशिष्यनिवहेषु वरेण्यविद्वान्
श्रीयोगिना गुरुवरेण च सन्निदिष्टः ।
संस्कारकार्यसुविधायकतत्समित्या
मान्यः सभापतिरभूत्स दयादिनन्दः ॥ ९७ ॥

राधेशशर्म-शिवदत्त-नृसिंहदेव-
श्रोत्रादिलाल-रघुनन्दन-रामचन्द्राः ।
गौरीश्वर-व्रजविलास-हरिस्वरूप-
हीरादिलाल-जगदीश-गणेशदत्ताः ॥ ९८ ॥

पुर्य्यां लवस्य शतशोऽपि बुधाः प्रसिद्धाः
ये भारते भुवि सनातनधर्ममान्या ।
शास्त्रीयरीतिमनुसृत्य च सन्मतिस्व-
माश्रित्य हिन्दुजनतामुददीधरंस्ते ॥ ९९ ॥

सर्पद्दिगन्तसितकीर्त्तिरसावनन्ता-
चार्यो मतोऽस्ति विदुषामपि सत्तमो यः ।
आचार्यवर्य्यप्रतिवादिभयङ्कराख्यो
वेदान्तवित्प्रवरवैष्णवधर्ममान्यः ॥ १०० ॥

रामानुजीयवरपीठमधिष्ठितो यः
काञ्चीपुरीविलसितं भगवत्प्रपन्नः ।
धर्मान्तरं श्रितवतां किल मानवाना-
मङ्गीकृतिं स मनुते निजहिन्दुधर्मे ॥ १०१ ॥

श्रीमञ्जुभाषिणि गिरो विबुधस्य पत्रे
साप्ताहिके निजमतं प्रकटीचकार ।
त्र्यष्टाङ्कभूमियुतवैक्रमहायने तत्
सूर्योदये समुदितं किल मासि मेषे ॥ १०२ ॥

अन्तर्दृगेष महनीयविदां वरिष्ठो
योगीश्वरः स मनुतेस्म विधर्मशुद्धिम् ।
खाष्टाङ्कभूमिमितवैक्रमवत्सरेऽस्याः
श्रीमण्डलाब्दविवृतो मिलिता व्यवस्था ॥ १०३ ॥

वङ्गीयलोकवसतिस्तु चकास्ति काश्यां
राज्ञाऽर्यधर्मपरिसेविकया भवान्या ।
संस्थापितं लसति रम्यविशालरूपं
गोपालमन्दिरमिदं शुचि दर्शनीयम् ॥ १०४ ॥

त्र्यष्टाङ्कभूपरिमिताब्दकुलीरमासे
कृष्णे दले हरितिथावभवत् सभैका ।
पञ्चाननेन सुधियाऽप्यथ लक्ष्मणेन
वामानदाचरणविज्ञवरैरनेकैः ॥ १०५ ॥

मोहाद् बलाद् विविधलोभवशाद्भयाद् वा
हेत्वन्तराच्च निजकान्मतिविभ्रमाच्च ।
स्त्रीणां नृणामखिलहिन्दुजसन्ततीनां
वैधर्म्यदूषणजुषां कथिता विशुद्धिः ॥ १०६ ॥

षड्द्व्यङ्कभूमिमित खृस्तसमाह्वयेऽब्दे
सत्पञ्चत्रिंशतितमेऽह्नि शुभेऽद्रिमासे ।
वङ्गीयभूसुर सभा कलिकान्तसंस्था
सा स्वीचकार विधिवद्धि विधर्मशुद्धिम् ॥ १०७ ॥

सम्मेलनं पशुयुगाङ्कशशाङ्कवर्षे
खृस्ते च सप्तमतिथौ हि नवम्बरेऽस्याम् ।
काश्यां महत् समभवद्भुवनामराणां
तन्मुख्यतामधिगतो मिथिलाधिनाथः ॥ १०८ ॥

भूदेववंशतिलको महतो महीयान्
राजाधिराजपदवीं परमां दधानः ।
शास्त्राटवीविहरणोरुयशा मृगेन्द्रः
श्रीमान् बुधेश्वररमेश्वरसिंहदेवः ॥ १०९ ॥

धर्मे दिवाकरपदेन विभूषितो यः
तस्मिन् सभापतिपदे सुविराजितः सन् ।
मोहम्मदानपि च खृस्तकधर्मभाजो
हिन्दून् विधातुमिह सोऽपि समुज्जुघोष ॥ ११० ॥

काश्यां महामहिमवाग्नुपदेशकानां
विद्यालयो यतिवरेण विनिर्मितो यः ।
अध्यक्षकेण विदुषाऽपि च तस्य साध्वी
प्राकाशि तद्विषयसंवलिता व्यवस्था ॥ १११ ॥

संदृश्यते खलु भविष्यपुराणमध्ये
नैके नृपाः समुपगम्य च मिश्रदेशम् ।
तत्रत्यनॄन् परिविशोध्य सहस्रशस्ते
प्रावेशयन्नसकृदर्हितवर्णधर्मे ॥ ११२ ॥

खृस्तेऽद्रियुग्मनवभूमिमिते च वर्षे
मास्याद्गिमे तिथिषु षड्गिरिवासवीसु ।
यो मण्डलेन विहितः स्वमहाधिवेश-
स्तस्याधिपत्यमकरोत् किल काशिराजः ॥ ११३ ॥

धर्मान्तरं गतवतामिह मानवानां
हिन्दूपदेन भुवने व्यपदेशभाजाम् ।
शास्त्रानुकूलमुपकल्प्य शुभां व्यवस्थां
संशोधनं पुनरसावपि निश्चिकाय ॥ ११४ ॥

काश्मीरराड्नरवरो जयसिंहदेवो
यः प्रादुरास शतहायनतोऽपि पूर्वम् ।
द्वारा वरेण्यविदुषां विदधद्व्यवस्था-
मङ्गीचकार किल सोऽपि विधर्मशुद्धिम् ॥ ११५ ॥

श्रीरामभिश्रविबुधोऽपि महामहोपा-
ध्यायोऽस्ति यो निखिलशास्त्रपयोधिमन्थः ।
व्रात्यत्वमाश्रितवतां बहुवंशतोऽपि
मीमांसनं च विरचय्य जगौ विशुद्धिम् ॥ ११६ ॥

आप्तैरनेकविधमान्यसुधीप्रकाण्डै-
र्धर्मान्तरं गतवतां च बहिष्कृतानाम् ।
अज्ञातपूर्वजनवंशपरम्पराणां
शुद्धिर्मता गणयितुं नहि सात्र शक्या ॥ ११७ ॥

भूमीसुरत्वपरिरक्षणतो हि नूनं
संरक्षिता भुवि भविष्यति हिन्दुजातिः ।
तस्माद् विशुद्धतमभूसुररक्तधारा-
शुद्धिर्नितान्तमुचितेति यतिर्जगाद ॥ ११८ ॥

आसीत् कदाचिदखिलं जगदार्यदेशः
संकोचनं ह्यधिगतः पुनरेशियाऽभूत् ।
तस्मात्परं भरतभूः, अधुनातु पाकि-
स्तानं तदर्धमभवद्, बत शोच्यमेतत् ॥ ११९ ॥

हंहो संख्या ह्रसन्ती सततमिह सतामार्यजातीयनॄणां,
वासक्ष्मा संकुचन्ती श्रुतिमतनिरतस्वान्तभाजांच तेषाम् ।
विद्वद्भिर्दूरदृष्ट्या परिणतिमसकृत्तां समालोचयद्भिः,
स्वीया जातिश्चदेशः समुचितविधिना ह्रासतो रक्षणीयौ ॥ १२० ॥

इति श्रीकविवर्यविन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिविरचिते
महर्षि श्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये सप्तदशः सर्गः ।



अथ अष्टादशः सर्गः

श्रीमहामण्डले सौम्य सायंतने
योगिराजस्य पादाम्बुजं नित्यशः ।
संगताऽऽस्तेस्म सत्सङ्गसंसत्परा
तत्र चायान्ति काशीस्थविद्वद्वराः ॥ १ ॥

एकदा तैः समागत्य जिज्ञासितं
हे मुने ! ज्ञानविज्ञानवित् सन्मते !
धर्मतत्त्वं नितान्तं श्रुतौ च स्मृता-
वागमे भिन्नभिन्नं कथं लक्ष्यते ? ॥ २ ॥

धर्मसम्बन्धयुक्तं त्वनेकं मतं
स्वीकृतं शास्त्रकारै र्निषिद्धं परैः ।
तच्च सत्यम्भरप्रज्ञया स्वीयया-
ऽऽलोच्य निष्कर्षभूतं न आदिश्यताम् ॥ ३ ॥

वैदिकैश्चापि पौराणिकैर्मन्यते
सप्तसप्ताऽधऊर्ध्वं च लोकाः स्थिताः ।
तेऽधुना नैव वैज्ञानिकैः स्वीकृता-
स्तत्स्थितिर्बोधगम्या विनिर्दिश्यताम् ॥ ४ ॥

वाचमाकर्ण्य विद्वज्जनानामिमां
मन्दमन्दस्मितेनैष योगीश्वरः ।
दन्तमुक्ताछटाभिः समुत्सारन्
ध्वान्तराशिं मुदा व्याजहारोत्तरम् ॥ ५ ॥

आगमे वा पुराणे श्रुतौ वा स्मृतौ
नैवधर्मस्य तत्त्वं विभिन्नं क्वचित् ।
उक्तिवैचित्र्यतो भिन्नताऽवाप्यते
तत्त्वतो लक्ष्यमेकं वरीवृत्यते ॥ ६ ॥

धार्यते येन चैतत्समस्तं जगज्
ज्ञातृभिर्व्याकृतेरेष धर्मो मतः ।
यस्य सद्भावराहित्यतो वस्तुनो
नैव सत्ता स एवापरैर्मन्यते ॥ ७ ॥

तच्च देशस्य कालस्य पात्रस्य वा
भेदतो धर्मतत्त्वं ध्रुवं भिद्यते ।
यस्तु धर्मः समस्तस्य वै स्वीकृतः
सोऽस्त्यधर्मो हि वैषम्यभाजां नृणाम् ॥ ८ ॥

इत्थमन्यैरनेकैर्मुनीन्द्रैश्च तद्
धर्मसल्लक्षणं भिन्नमङ्गीकृतम् ।
वस्तुतो नैव सिद्धान्तभेदः क्वचिद्
दृश्यतां तच्च सूक्ष्मेक्षिकाभिर्बुधैः ॥ ९ ॥

लोकानां हितसाधकं च विधिना साध्यं तथाऽऽत्मोत्मुखं
लीलामोचकमीश्वरार्पितमथ स्वोत्कर्षनिर्वाणदम् ।
अक्लिष्टप्रतिपोषकं च मुनयः सत्त्वस्य संवर्धकं
प्राचीनाः श्रुतिशास्त्रसिद्धमखिलं कर्मैव धर्मं जगुः ॥ १० ॥

अक्लिष्टं च पतञ्जलिर्मुनिभरद्वाजश्च सत्त्वोन्मुखं
विश्वेशार्पितमङ्गिराश्रवणकभुक् स्वोत्कर्षमुक्तिप्रदम् ।
व्यासो लोकहितं चिदुन्मुखमपि श्रीगौतमो जैमिनिः—
श्रौतं धर्ममलीकमाह कपिलो वैधं विधिं नारदः ॥ ११ ॥

एष धर्मश्चतुर्धा विभक्तः सदा
वेदतत्त्वार्थविद्भिर्विपश्चिद्वरैः ।
सोऽस्ति साधरणश्चाप्यसाधारणः
सद्विशेषो त्रिपत्काल सेव्यस्तथा ॥ १२ ॥

भूतलेऽस्मिन् समैर्मानवैराहतो
यश्च सर्वैः समालम्बनीयो भवेत् ।
अस्ति यः सर्वकल्याणकृत् सर्वदा
सैष धर्मोऽस्ति साधारणः स्वीकृतः ॥ १३ ॥

धैर्यसत्ये क्षमाचेन्द्रियाणां जय-
श्चौर्यराहित्यमक्रोधता स्वच्छता ।
आर्जवं चास्तिकत्वं मनोनिग्रहो
बुद्धिविद्यार्जनं निर्भयत्वं च तत् ॥ १४ ॥

भूतसंघे दया देवदेवेमति-
र्धर्ममोक्षादिचिन्ता विरोधेऽरतिः ।
कायवाक् चित्तसंशोधनस्वीकृतिः
सर्वसाधारणो धर्म एष श्रुतः ॥ १५ ॥

विद्यते नानुकूलं निजस्यात्मनो
नाचरेत् तत्परेषां कदाचिन्नरः ।
कर्मतत्वं च साधारणं तन्मतं
सेवनीयं सुधावत् सुधीभिः समैः ॥ १६ ॥

विगर्हितो यो भवतीह भूतले
श्रुतौ स्मृतौ चापि सतां प्रवृत्तिषु ।
निषेवणाद्यस्य शरीरिणां ध्रुवं
सदैव जागर्त्ति निपातशङ्कनम् ॥ १७ ॥

तमाश्रितेनापि नरेण धीमता
सता त्वसाधारणशक्तिशालिना ।
विधीयते स्वस्य शुभा समुन्नति-
र्हिंसात्वसाधारणधर्म ईर्यते ॥ १८ ॥

पञ्चानामप्यात्मजानां च पाण्डोः
पत्नीत्वं सा द्रौपदी यत् प्रपेदे ।
कार्यं चैतद् धर्मशास्त्रैर्निषिद्धं
कर्तुं चैतत् द्रौपदीवेश्वरी स्यात् ॥ १९ ॥

निर्धारितोऽभूत् समयश्च यावान्
एकस्य पत्युश्च कृते हि तस्याः ।
अन्यं न सस्मार हृदापि साध्वी
नारीष्वसाधारणतां गता सा ॥ २० ॥

तपस्यतस्तत्त्रिशिरो मुनेः पुरा
शिरो मरुत्वान् भयविह्वलो भवन् ।
चकर्त्त राज्यापहृतेर्विशङ्कया
नृपेण पुत्रादपि भीतिराप्यते ॥ २१ ॥

महाबलं प्रेक्ष्य बलासुरं रिपुं
छलं समाश्रित्य जघान चैषकः ।
निहन्ति यः सन्मुखमाहवे स्वकं
सपत्नमास्ते स हि वीरपुङ्गवः ॥ २२ ॥

स्त्रियो महर्षेरधमेषु सोऽधमः
सतीत्वभङ्गाय कदाप्यचेष्टत ।
सुरूपमासाद्य पुमान् हि दुष्कृतिं
प्रपद्यते सोऽस्ति मतो विमूढधीः ॥ २३ ॥

निजाद् वरेण्यादुपयोगतो विना
जहाति शक्तिर्ध्रुवमेव मानवान् ।
अतो हि दोषत्रयकारणाद् दिव-
स्पतेः शरीरं विजहुस्त्रिशक्तयः ॥ २४ ॥

निजैरधर्माचरणैः सुदुर्बलं
शतक्रतुं वीक्ष्य सुरान् जिघांसुभिः ।
विजेतुकामैरसुरैस्त्रिविष्टपं
स्वशक्तिरिद्धा विभराम्बभूविरे ॥ २५ ॥

ततश्च देवासुरसंगरेऽद्भुते
प्रवर्त्तमाने दनुजा ह्यनेकशः ।
नृलोकमादौ विजिगीषया च ते-
ऽवतेरुरस्मिन् भरतस्य भूतले ॥ २६ ॥

सुयोधनश्चाप्यथ दुष्टशासनो
ह्यतीतसंख्याश्च तदीयबान्धवाः ।
दुरोदरज्ञः शकुनिस्तथाऽपरे
सुरद्रुहामंशत एव जज्ञिरे ॥ २७ ॥

सुराश्च तत्रावसरे दिवौकसः
समे सपत्नैरसुरैर्युयुत्सवः ।
मनुष्यदेहेष्वतेरुरात्मनो
रिरक्षया जन्मभुवं ह्यसुप्रियम् ॥ २८ ॥

धर्मस्य चाप्यथ बलस्य सुरूपतायाः
देवास्त्रयोऽधिपतयः श्रुतिभिर्निदिष्टाः ।
सम्मिल्यते हि विबुधाधिपदोषचण्डा
अंशान् निचिक्षिपुरिहेन्द्रशरीरतः स्वान् ॥२९॥

धर्मांशतः समुदपद्यत धर्मराजो
भीमो बलाधिपति वायुत आविरास ।
अश्वाकुमारयुगलादपि माद्रिकायाः
सौन्दर्यशक्त्यधिपतोऽभवतां तनूजौ ॥ ३० ॥

चत्वार एत इहपाण्डुसुताः प्रसिद्धाः
इन्द्रांशतो हि भुवने जगृहुः स्वदेहान् ।
आयोधने तु दनुजैः सह सम्प्रवृत्ते
स्वर्गाधिपोऽपि धृतवान् वपुरर्जुनस्य ॥ ३१ ॥

द्रुपदनृपतिपूताद् यज्ञकुण्डाद् वरेण्या-
दपि सुरपतिपत्नी जन्म लब्ध्वा स्वकीयम् ।
द्रुपदपितरमाप्ता द्रौपदी याज्ञसेनी
परिणतिमभजत् तद्गीतमास्ते पुराणे ॥ ३२ ॥

प्रथितनिजसुताया एकतो निर्जितायाः
परिणयनविधाने पञ्चभिः श्रूयमाणे ।
निरतिशयमधर्मं मन्यमानो नरेन्द्रो
विधिमिममवमत्य क्रोधसम्मूर्च्छितोऽभूत् ॥ ३३ ॥

ततो नृपेन्द्रा मुनयो महर्षयः
समागता निर्णयदानहेतवे ।
व्यासः सचाध्यात्मविदां विदांवरो
जगाद पौराणिकमेतदीरितम् ॥ ३४ ॥

रूपाणि पञ्च दधतः किल पाण्डुपुत्रा
एकस्य निर्जरपतेर्यदि सन्ति रूपम् ।
चेद् द्रौपदी यदि भुवीह सुरेन्द्रपत्नी
नास्ते करग्रहविधाविह दोषलेशः ॥ ३५ ॥

विश्वामित्रो यस्तु पूर्वं कदाचिद्
आसीद् राजर्षिः प्रकृष्टप्रभावः ।
जन्मन्यैकस्मिन्नसौ भूसुरत्वं
प्रापच्चोग्रैर्दुःखसाध्यैस्तपोभिः ॥ ३६ ॥

ब्रह्मतेजो विशिष्टस्य मातुश्चरो-
र्भक्षणात् क्षत्रियायास्तनूजोऽप्यसौ ।
ब्राह्मणत्वं गतो यत्तपोभिश्चिरं
सोऽप्यसाधारणो धर्म एवादृतः ॥ ३७ ॥

वर्णानां वै यश्चतुर्णां स्वतन्त्रो
धर्मः प्रोक्तश्चाश्रमाणां तथैव ।
आर्यानार्याणां च लोके विभिन्नो
विज्ञेयोऽसौ शास्त्रविद्भिर्विशेषः ॥ ३८ ॥

योऽस्त्यधर्मः स चेद् भावशुद्ध्यापदि
मानवैः प्राणरक्षाकृतेऽनुष्ठितः ।
नूनमेवाप्यसौ धर्मसद्रूपतां
धारयत्येतदास्ते श्रुतेः सम्मतम् ॥ ३९ ॥

दुर्भिक्ष्यबाहुल्यनिपीड़ितोऽसौ
महर्षिवर्योऽपि च गाधिसूनुः ।
प्रविश्य चाण्डालनिकेतनेषु
जहार निन्द्यं ह्यशुचिश्वमांसम् ॥ ४० ॥

उच्छिष्टकुल्माषमपि श्वपाक-
स्यादाय ब्रह्मर्षिरसौ बभक्ष ।
ररक्ष वेदज्ञवरो निजासून्
कथा प्रसिद्धोपनिषत्सु चैषा ॥ ४१ ॥

महर्षिभिर्विश्रुतशेमुषीकै-
विंद्वत्प्रकाण्डैरपि तैरनेकैः ।
विपत्तिकाले चरितानि यानि
विचारणीयानि बुधैरिदानीम् ॥ ४२ ॥

वर्णानां वाह्याश्रमाणां चतुर्णा-
मापत्काले बीजसंरक्षणाय ।
उद्योक्तव्यं संहतैः शास्त्रविद्भिः
रागद्वेषौ सम्परित्यज्य नूनम् ॥ ४३ ॥

कलेरादिकाले विपश्चिद्वरेण्यै-
रनेकेऽपि शास्त्रीयधर्माः प्रसिद्धाः ।
व्यवस्था विधानेन साधीयसा तै-
र्निरुद्धा इति प्राज्ञवर्या विदन्ति ॥ ४४ ॥

इदानीं तथैव प्रसिद्धैः सुधीभि-
र्विपत्कालमासाद्य सा हिन्दुजातिः ।
सुसंरक्षिता स्यादियं यैरुपायै-
र्ध्रुवं ते विधेया बुधैरेकमत्या ॥ ४५ ॥

यथा यथाऽऽवश्यकताऽनुभूयते
तथा तथा सद्विबुधैः प्रयत्यते ।
निवारिताश्चापि कलौ व्यवस्थया
प्रवर्त्तिताः सन्ति यथा प्रयोजनम् ॥ ४६ ॥

आदर्शधर्मस्य तु बीजरक्षणं
प्राज्ञो विदध्याद्धि कलाविहापदि ।
नेयं न तद्विस्मृतिमङ्ग जातुचिद्
धर्मस्य निष्कर्ष इति स्म मन्यताम् ॥ ४७ ॥

शास्त्रानुसारि बहुसाधकबाधकैस्तै-
रालोचितैरिति विभाति मतं प्रमाणैः ।
दिव्या त्रिलोकमहिता च तपस्विनी च
श्रेण्योऽधमा च गदिता विधवाजनानाम् ॥ ४८ ॥

पत्यौ मृते सहगतिं कुरुते तु या स्त्री
दिव्या मता ह्युभयलोकपवित्रहेतुः ।
जीवेत् स्वधर्मनिरता तु तपस्विनी सा
पित्राज्ञया निजसवर्णरताऽधमोक्ताः ॥ ४९ ॥

क्वचिदपि विधवायाः पाणिपीडाविधानं
न च निगदितमास्ते धर्मशास्त्रे श्रुतौ वा ।
इह भवति निरुद्धाऽऽध्यात्म मार्गे तदीया
मनुजजननलक्ष्या ह्युन्नतिर्नूनमेव ॥ ५० ॥

कर्तुं न शक्ता भुवि या नियन्त्रणं
स्वजीवनस्योचितमत्र कर्हिचित् ।
सा चेत् प्रदुष्येत् सहचापरैर्नरै-
र्विधर्मसंख्यामनिशं प्रवर्धयेत् ॥ ५१ ॥

तस्याश्च तत्पतितनूजनुषां विमानः
सामाजिकैर्नहि कदापि बुधैर्विधेयः ।
एतादृगस्ति ललना परिरक्षणीया
श्रेणी पृथग् भवतु भूमिसुरे तदीया ॥ ५२ ॥

सगोत्राविवाहो महानस्त्यधर्मः
स वर्णाश्रमान् हन्ति नूनं समूलम् ।
ऋषीणां सुराणां पितॄणां कृपाया
अभावेन जातिं ह्यनार्यां विधत्ते ॥ ५३ ॥

अतस्तत्परित्यागतः पालनीया
स्वजातिः सदा भूसुरैः प्रत्नशीलैः ।
प्रसह्य प्रकुर्याद् तदा कश्चिदेनं
तदाऽसौ समाजात् पृथक्स्थापनीयः ॥ ५४ ॥

विशां क्षत्रियाणां सगोत्रत्वमास्ते
स्वकीयेन गोत्रेण पौरोहितेन ।
ध्रुवं पाणिपीड़ाविधौ ब्राह्मणाद्यै-
स्तदालोचनीयं विपश्चिद्वरेण्यैः ॥ ५५ ॥

विवाहस्य विच्छेदनीतिर्नधर्म्या
मता शास्त्रसिद्धान्तशून्या तथैव ।
असावग्निदेवादिसान्निध्यमूला
द्विजातौ तु सा वर्जनीया प्रयत्नात् ॥ ५६ ॥

प्रतिज्ञां विधायैष सम्पादितत्वात्
सुराग्न्यादि सामीप्यदानेन चापि ।
न विच्छेदमर्हो विवाहः कदाचिन्
निरोद्धव्य आस्ते द्विजत्वप्रणाशः ॥ ५७ ॥

दैवं पीठं न स्पृशेद् ब्राह्मणोऽपि
पूजाकृद्भ्यो वर्त्तते योऽतिरिक्तः ।
मर्यादा या रक्षणं कुर्वतां वै
सर्वेषां तद्दर्शने चाधिकारः ॥ ५८ ॥

संसर्गदोषस्य तु मान्यता स्थिरा
वैज्ञानिकी चापि मता महर्षिभिः ।
परन्तु दोषोऽयमनादृतो बुधै-
र्विज्ञायते तत्कलित्रय्यवेदिभिः ॥ ५९ ॥

सामूहिकोऽसावधुना निषिध्यतां
तथा सता व्यक्तिगतो निषेव्यताम् ।
धर्मस्य तत्त्वं च रहस्यमीदृशं
ज्ञेयं विपश्चित्प्रवरैरसंशयम् ॥ ६० ॥

समुद्रयात्रा बहुभिर्महाजनै-
रनुष्ठिताः सन्ति सदा पुरा युगे ।
स ईश्वरो दाशरथिः सरित्पतिं
ललङ्घ मर्यादितधर्मपालकः ॥ ६१ ॥

तैः पाण्डुपुत्रैरपि धर्मरक्षकै-
रटाट्यमानैर्भुवि चार्जुनादिभिः ।
अन्यैरनेकैर्निजधर्मभीरुभिः
उल्लङ्घितोऽसावसकृत्पयोनिधिः ॥ ६२ ॥

महात्मभिः शाश्वतधर्मसेविभि-
श्चिरन्तनैः सत्पुरुषैः प्रवर्त्तितम् ।
समाश्रयेन्मार्गमतन्द्रितः पुमान्
महर्षयो धर्मकृतश्च मन्वते ॥ ६३ ॥

स्वधर्मरक्षासु दृढव्रतैर्नरैः
समुद्रपारं यदि गम्यते तदा ।
न दोष इत्यस्ति मतं विपश्चिता-
मसंख्यकानां परिदृश्यतेऽधुना ॥ ६४ ॥

शास्त्राब्धिमन्थो विबुधो महामहो-
पाध्याय आज्ञापितवान् सदाशिवः ।
"कल्यापदो धर्मसमस्ख" नामके
ग्रन्थे महत्येष गतिं पयोनिधेः ॥ ६५ ॥

ग्रन्थे तदीये परिशिष्टभागके
प्रख्यात विद्वद्वरनाममुद्रिता ।
आचार्य्यवर्य्यैरपि या समर्थिता
व्यवस्थितिश्चाब्धिगमे विलोक्यते ॥ ६६ ॥

श्रीराजनाथाभिधभूसुरोत्तमो
विद्वद्वरो मैथिलदेशविश्रुतः ।
श्रुतिस्मृतिप्राज्ञवरो महामहो-
पाध्यायविख्यातपदेन भूषितः ॥ ६७ ॥

समुद्रयात्रां विधिवत् प्रकुर्वति
सुश्रोत्रियब्राह्मणवंशजन्मनि ।
श्रीमैथिलप्रान्तमहाजनेश्वरे
विदेशयात्रा विनिवर्तिते सति ॥ ६८ ॥

प्रदाय शास्त्रीयशुभव्यवस्थां
स प्राज्ञराड् दोषविशोधनार्हाम् ।
चकार शुद्धिं मिथिलाधिपस्य
तत्रत्यविज्ञैरपि चादृता सा ॥ ६९ ॥

गङ्गाधरिः स तिलकोऽपि च मालवीय-
श्चान्येऽप्यनेकविबुधा निजमातृभूमेः ।
काल्याणकारि शुभवासनया महान्तो
जग्मुः समुद्रमतिलङ्घ्य बहून् विदेशान् ॥ ७० ॥

काशीरामः स्मार्त्तविद्वद्धुरीणो
भट्टाचार्यो वङ्गदेशप्रसिद्धः ।
अब्धिं गत्वा पापिनां दुष्कृतीनां
प्राणत्यागं ह्यब्धियानेन मेने ॥ ७१ ॥

भृगोर्निपाताच्च तुषानलादिषु
प्रवेशतो हैमगिरौ गमादपि ।
समुद्रयानादथवाऽन्यतो विधेः
शरीरपातोऽत्रकलौ निषिध्यते ॥ ७२ ॥

प्रायश्चित्तं सर्वमेतादृशं वै
कश्चिद् विद्वान् नाचरेद्दोषमिच्छन् ।
सर्वैः कालज्ञैः कलेरादिकाले
विद्वद्धुर्य्यैरब्धियात्रा निरुद्धा ॥ ७३ ॥

अध्यात्मविद्यानिरता विपश्चितो
महीसुरा यान्तु न केऽपि भारतात् ।
पयोधिकारं, य इहात्मतत्त्वकं
बुभुत्सवस्ते भुवमाश्रयन्त्विमाम् ॥ ७४ ॥

अध्येतुकामा किल शिष्यमण्डली
पुरा गुरूणां सुधियां गृहाण्यगात् ।
गुरुः प्रयातिस्म न शिष्यमन्दिरं
यतश्च तद्गौरवरक्षणं भवेत् ॥ ७५ ॥

इति स्म मत्वाऽऽर्यभुवो बहिर्गमा
निवारिताः सन्ति सदग्रजन्मनाम् ।
वदन्ति केचित् प्रथमे विपश्चितां
तपस्विनो वैदिकबोधवित्तमाः ॥ ७६ ॥

मनुर्महर्षिर्ह्यनुशास्ति स स्वयं
धरातले ये मनुजा वसन्ति ते ।
उत्पद्यमानाद् भरतस्य भूतले
चरित्रशिक्षामधियन्तु भूसुरात् ॥ ७७ ॥

अतः परात्मज्ञ-सुभूसुरोत्तमः
समुज्झ्य नैजं परिपूतभारतम् ।
समुद्रपारं न हि गन्तुमर्हता-
दिदं समाज्ञायि विपश्चिदीश्वरैः ॥ ७८ ॥

यदस्तु सत्यं नहि कश्चिदाग्रहो
मदीय आस्ते विषयेऽत्र धीधनाः ।
भवद्भिरालोच्यमितीहया मया
निवेदितं सम्प्रति तद् भवत्पुरः ॥ ७९ ॥

समुन्नतिं जीवततेः करोति यत्
कर्मैव धर्मो भुवि मन्यते बुधैः ।
तज्जैवमैशं सहजं त्रिधा मतं
महर्षिभिस्तैः श्रुतितत्त्वदर्शिभिः ॥ ८० ॥

गतागतं यद् विदधाति देहिना-
मधस्तथोर्ध्वं नयते निरन्तरम् ।
न बन्धनान्मोचयते कदापि तद्
भुवीह जैवं कथितं सुधीश्वरैः ॥ ८१ ॥

अधीश्वरत्वं जगतां सदानयत्
त्रिदेवशश्वत्पदमन्तिमेऽर्पयत् ।
ददाति मुक्तिं प्रलये जन्तुमतां
तदैशमास्ते श्रुतिवित्तमैर्मतम् ॥ ८२ ॥

इहैव लोके नरधामनि ध्रुवं
चतुर्षु वर्णेषु समुन्नतिं क्रमात् ।
न यच्च निर्वाणपदं प्रयच्छति
मुनीश्वरैस्तत् सहजं प्रगीयते ॥ ८३ ॥

किंवाऽधिकारानमुसृत्य यन्निजान्
　　　　वर्णैश्चतुर्भिर्भुवि शास्त्रसम्मतम् ।
निष्कामभावेन सदा विधीयते
　　　　तद् वै चतुर्णामपि मुक्तिदायकम् ॥ ८४ ॥

अतो महत्त्वं सहजस्य कर्मणो
　　　　ह्यभ्यर्हितं सर्वमतीत्य वर्त्तते ।
प्रयाति यः शास्त्रविधिं समुत्सृजन्
　　　　न तस्य सिद्धिर्गदिताऽत्रगीतया ॥ ८५ ॥

शास्त्रै र्निदिष्टः किल यस्य यो विधि-
　　　　स्तस्य स्वकर्त्तव्यतया निषेवणात् ।
फलस्य तस्य प्रभवे समर्पणा-
　　　　दिहैव मोक्षं लभते स जन्मनि ॥ ८६ ॥

पितुश्च मातुश्च सहस्रतोऽधिको
　　　　हितप्रदः शास्त्रसमुच्चयो मतः ।
अतो य एनं विजहाति मानवो
　　　　न तत्समो मूढ इहास्ति कश्चन ॥ ८७ ॥

आर्या मर्यादा स्थिता यत्र साध्वी
　　　　धर्माः पाल्यन्ते च वर्णाश्रमीयाः ।
त्रय्या देशो यः सदा रक्षितः स्यात्
　　　　सीदेन्नासौ सर्वदैव प्रसीदेत् ॥ ८८ ॥

जातिर्देशो वा यदा धर्मनीतिं
　　　　दूरं त्यक्त्वा संव्रजेत् स्वेच्छया चेत् ।
संनद्धा स्यादुन्नतिः सा तदीया
　　　　नाशं गच्छेत् कालतो निश्चयेन ॥ ८९ ॥

न जातु कामान्नभयान्नलोभाद्
धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ।
इत्याज्ञप्तं शास्त्रविद्भिर्मुनीन्द्रै-
स्तस्माद्धर्मो रक्षणीयः प्रयत्नात् ॥ ९० ॥

जगद्धरं धर्ममथेश्वरं च
न मन्वते ये मनुजाः कदापि ।
ते सन्ति नूनं पशवो नृरूपाः
किं वा श्वसन्तोऽपि मृता भवन्ति ॥ ९१ ॥

जीवाः समे स्थावरजङ्गमा भृशं
सञ्चालिताः प्राकृतिकेन धर्मतः ।
एनं निराहृत्य यशस्विनोऽपि चेत्
तिष्ठन्ति ये ते पशुतोऽपि गर्हिताः ॥ ९२ ॥

धर्मान्तरं यो भुवने प्रबाधते
प्रयुध्यते हन्त तथाऽन्यधर्मभिः ।
अधर्मभृद् धर्मसमाह्वयोऽप्यसौ
विगर्हणीयो विबुधै र्भवेद् ध्रुवम् ॥ ९३ ॥

सनातनः सर्वसमन्वयान्वितः
प्रचारणीयो भुवने स शासकैः ।
धर्मं सुरक्षन्ति नरेश्वराश्च ये
तान् सर्वतो रक्षति सोऽपि रक्षितः ॥ ९४ ॥

क्षितीश्वरे धर्मिणि धार्मिकी प्रजा
पापे च पापा भुवि सा समे समा ।
प्रजा तु राजानमिहानुवर्तते
राजा यथास्याद्धि तथा भवेत्प्रजा ॥ ९५ ॥

विधिश्च वैवाहिक आर्य पूर्वै-
　　र्मतोऽस्ति धर्मो ननु दूरदर्शिभिः ।
परन्तु कैश्चिल्लघुबुद्धिमानवै-
　　रुदर्करम्योऽपि विगीयतेऽधुना ॥ ९६ ॥

क्रियामिहैकां हि गुणत्रयाश्रिता
　　मति र्मनुष्यस्य विभिन्नरूपधृक् ।
हितां तथैवाप्यहितां च मन्यते
　　सदोपदृष्टिर्वत चैकवस्त्विव ॥ ९७ ॥

प्रवृत्तिं निवृत्तिं च कार्यं ह्यकार्यं
　　भयं चाभयं निर्वृत्तिं बन्धनं च ।
मतिर्वेत्त्यधर्मं च धर्मं यथार्थं
　　मता सात्त्विकी सैव कल्याणकर्त्री ॥ ९८ ॥

यया मानवः स्वं हितं वाऽहितं वा-
　　ऽविधेयं विधेयं त्वधर्मं च धर्मम् ।
ऋतं चानृतं वाऽयथावत् प्रपन्नौ
　　मता राजसी सा मतिस्तत्त्वविद्भिः ॥ ९९ ॥

अधर्मं हि धर्मं सदा मन्यते या
　　दरीदृश्यते वैपरीत्येन सर्वम् ।
तमोग्रस्ततायाः प्रभावेण नित्यं
　　मता सा मतिस्तामसी वेदविज्ञैः ॥ १०० ॥

तमोगुणग्रस्तमतित्वहेतुतः
　　स्वधर्मविज्ञानविबोधवर्जनात् ।
विवर्त्तनं मूर्खतया प्रकुर्वते
　　सनातनोद्वाहविधौ च केचन ॥ १०१ ॥

आरभ्य वै द्वादशवत्सरात् स्त्रियां
रक्तागमः षोडशवत्सरावधि ।
उष्णे च शीते भरतस्य भूतले
निर्दिष्ट आस्ते चरकादिभिर्बुधैः ॥ १०२ ॥

रजःप्रवृत्तेः प्रथमं हितावहः
कन्याविवाहः श्रुतिशास्त्रसम्मतः ।
तत्कारणं पांशुलपादमानवो
मूर्खोऽपि जानाति विदस्तु का कथा ॥ १०३ ॥

आधानकालः किल वर्त्तते स्त्रियां
शुभावहः षोडशवर्षतः परम् ।
वदन्ति चेत्थं चरकादयः समे
शरीरविज्ञानविदो महर्षयः ॥ १०४ ॥

परन्तु हंहो विपरीतदर्शिभि-
र्वयोऽवधिर्धर्मे विरुद्ध आदृतः ।
को वा ह्यधर्माश्रित राजपद्धतेः
प्रतीपगामी प्रभवेत् सुधीश्वरः ॥ १०५ ॥

मनुर्मुनीशोयदि चानुशास्ति तत्
शास्ता यदा धर्मविरुद्धमाचरेत् ।
शस्त्राणि गृह्णन्तु तपस्विनोऽपि ते
ये सन्ति शश्वत्प्रशमोपसेविनः ॥ १०६ ॥

कालोऽनुकूलो नहि किन्तु साम्प्रतं
प्रजाजनो धर्ममुपेक्ष्य वर्त्तते ।
काले कलौ धार्मिककृत्यसन्ततेः
सुबीजरक्षैव जगत्सु युज्यते ॥ १०७ ॥

अतः सदर्वाग् रजसः समुद्गमाद्
वाग्दानमेवास्ति विपश्चिदादृतम् ।
कलौ कराले विधिनाऽमुनाऽधुना
धर्मः कथञ्चित् परिरक्षितो भवेत् ॥ १०८ ॥

विवाहोऽसवर्णोऽपि कैश्चिन्मनुष्यै-
र्विधायातिदुष्टामहो शासनाज्ञाम् ।
समातन्यते संकरीकृत्यहेतु
र्व्रजेत् तेन सा हिन्दुजातिर्विनाशम् ॥ १०९ ॥

साङ्कर्य्यदोषजनिताः पशवो द्रुमाश्च
नाशं व्रजन्ति यदि कालवशेन चैते ।
प्रत्यक्षतश्च सकलैः परिदृश्यते तत्
प्रासार्यते बत कथं स हि पापकृद्भिः ॥ ११० ॥

वर्णाश्रमीयनिजधर्ममनुव्रजद्भिः
शास्त्रानुसारिशुभशासनकारिभिस्तैः ।
प्रादर्शि कैश्चिदनुलोमविवाहरीतिः
सा साम्प्रतं कलियुगे न शुभावहाऽऽस्ते ॥ १११ ॥

वृषभाश्वलुलायशूकर-
प्रभृतीनां वरबीजरक्षणम् ।
उचितं भुवि मन्यते जनै-
र्द्विजताया ननु, चित्रमस्ति तत् ॥ ११२ ॥

उक्त्वेति वाचं विरराम योगी
जगाद-विज्ञाः स्वनिकेतनानि ।
प्रयात, यूयं समयेन सन्ध्या-
मुपास्तुमागच्छत वै पुनः श्वः ॥ ११३ ॥

हिन्दूनां तद्धितकरवचः शास्त्रसिद्धं मया यत्
श्रीमद्भ्यः संनिगदितमिदं दूरदृष्ट्या विचिन्त्य ।
विद्वद्वर्य्याः परिणतधियःशान्तचित्तैः समस्तं
गत्वा गेहं निजनिजमनस्स्वेतदालोचनीयम् ॥ ११४ ॥

इति श्री कविवर्यविन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिविरचिते महर्षि
श्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्येऽष्टादशः सर्गः ॥

अथैकोनविंशः सर्गः

पण्डितास्तु भवनानि निजानि
प्राप्य नैशशयनं नहि भेजुः ।
योगिराजवचसां मनने ते
ऽनिद्रिताश्च निरताः समभूवन् ॥ १ ॥

सारगर्भमुपदेशमनिन्द्यं
श्रोत्रपेयममृतायितमेतम् ।
श्रोतुकाममनसः पुनरेते
प्रापयुर्यतिवराङ्घ्रिसरोजम् ॥ २ ॥

मण्डलेऽत्र पुनरेप सुधीन्द्रान्
आगतान् समवलोक्य यतीन्द्रः ।
ह्यस्तनीयमवशिष्टसुगूढं
प्रश्नमुत्तरयितुं त्विदमाह ॥ ३ ॥

श्रूयतां—बहुविधाखिललोक-
संस्थितिः श्रुतिपुराणनिदिष्टा ।
याऽधुनातनविपश्चिदगम्या
श्राव्यते सुविकलय्य मयाऽद्य ॥ ४ ॥

सप्त सप्त भुवनानि तथाऽध-
श्चोर्ध्वमत्र विलसन्ति वराण्डे ।
ब्रह्मणश्च कथितानि मुनीन्द्रैः
प्रज्ञया ऋतभृतेति विभाव्यम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मणोऽण्डमथ पिण्डमपीदं
सर्वशास्त्रगदितं हि समानम् ।
मेरुदण्ड इव सर्वविधाङ्गं
संविभर्ति भुवनानि सुमेरुः ॥ ६ ॥

तलं तथैवाप्यतलं तलातलं
वैतल्यकं वै सुतलं रसातलम् ।
पातालकं सर्वत एवनिम्नगं
लसन्ति लोकाः क्रमशो ह्यधः स्थिताः ॥ ७ ॥

भूर्भुवः स्वरथ पुण्यदं मह-
स्तत्परं जनतपस्सुसत्यकम् ।
ऊर्ध्वगानि भुवनानि च क्रमाद्
ब्रह्मणोऽत्रविलसन्ति चाण्डके ॥ ८ ॥

ऊर्ध्वस्थितेषु भुवनेषु वसन्ति देवा
निम्नस्थितेषु निवसन्ति सुरद्रुहश्च ।
पातालनाम्नि भुवनेऽखिलनिम्नसंस्थे
संराजतेऽत्र सुमनोरिपुराजधानी ॥ ९ ॥

भूर्लोक आद्य उपरिस्थितलोककेषु
तस्योपरि प्रतिचकास्ति भुवर्हि लोकः ।
एतद्द्वयस्य वरशासक धर्मराज
स्तद्राजवेश्म पितृलोकमधिष्ठितं हि ॥ १० ॥

मृत्योर्लोकोऽयं तथा प्रेतलोको
नारक्यो वै पैत्रिकोऽसौ तथैव ।
चत्वारस्ते सन्ति भूर्लोकभागाः
सद्भिः सर्वैः शास्त्रकारै र्निदिष्टाः ॥ ११ ॥

भूभृद्ग्रामारामचैत्याब्ध्यरण्यै
नींपक्षौमग्रन्थिकिञ्जल्कतुल्यैः ।
गोलाकारः सर्वतो वेष्टितोऽयं
भूस्थः संसारो मतो मृत्युलोकः ॥ १२ ॥

भूमेर्मध्याकर्षणाभ्यन्तरेऽस्मिन्
प्रेतावासः प्रेतलोकश्चकास्ते ।
अस्या भूमेर्दक्षिणे नारकाख्यः
पैत्र्यो लोको नैर्ऋते लालसीति ॥ १३ ॥

आत्महन्ताऽग्निदाहादिभिः कारणै-
र्देहदारात्मजाद्येषु चासक्तितः ।
स्वं जहीते शरीरं च यो मानवो-
ऽशान्तिदप्रेतलोकं स याति ध्रुवम् ॥ १४ ॥

नरकलोकमतीवभयंकरं
व्रजति पापपरायणमानवः ।
बहुविधा निजदुष्कृतियातना
अनुभवन् परिरोदिति दुःखितः ॥ १५ ॥

महारौरवो रौरवश्चाम्बरीषो
महाकालकः कालकः कुम्भपाकः ।
असीपत्रकाद्या अनेके विभागा
श्रुतौ विश्रुता आसते नारकीयाः ॥ १६ ॥

यमाधिष्ठितश्चान्वितः सर्वसौख्यैः
पितुर्लोक उक्तस्स वै स्वर्गतुल्यः ।
वियुक्तानसुभ्यः पितॄन् हिन्दवः स्वान्
नयन्ते नराः श्राद्धदानादिभिर्यम् ॥ १७ ॥

भूर्लोकेऽस्मिन् राजमानाः समन्तात्
सप्तद्वीपाः सन्ति येष्वादिमेऽस्मिन् ।
वर्षाणां साऽवस्तिताऽऽस्ते नवानां
विज्ञातव्या आर्यमिश्रैरथस्ते ॥ १८ ॥

जम्बूप्लक्षौ शाल्मलिर्वैकुशश्च
क्रौञ्चः शाकः पुष्करश्चेति सप्त ।
द्वीपाश्चैते सप्तभिस्तैः समुद्रै-
र्मध्ये मध्ये चावृताः सन्ति सर्वे ॥ १९ ॥

लवणेक्षुसुराघृतैस्तथा
ह्यपि दध्ना पयसोदकेन च ।
सततं परिवेष्टिताश्चतद्-
गुणवातावरणैश्च ते क्रमात् ॥ २० ॥

तद् भारताख्यं प्रथमं च वर्षं
द्वितीयकं किम्पुरुषं प्रदिष्टम् ।
तृतीयमास्ते हरिवर्षमेतद्
इमानि मेरोर्दिशि दक्षिणस्याम् ॥ २१ ॥

तदुत्तरे रम्यकवर्षमास्ते
हिरण्मयं वर्षमतः परस्तात् ।
ततो नु वर्षं कुरुनामकं च
तदुत्तरस्थाः कुरवः प्रसिद्धाः ॥ २२ ॥

भद्राश्ववर्षं च सुमेरुतः प्राग्
वर्षं प्रतीच्यामपि केतुमालम् ।
इलावृतं भाति तयोस्तु मध्ये
समुच्छ्रितो यत्र गिरिः सुमेरुः ॥ २३ ॥

गिरीश्वरोऽयं महतो महीयान्
सुसूक्ष्मरूपोऽद्भुत शक्तिपुञ्जः ।
यमाश्रिता ऊर्ध्वमधस्थिताश्च
चतुर्दशैते विलसन्ति लोकाः ॥ २४ ॥

द्वीपाश्च सप्त गदिताः परिवेष्टिता ये
तत्तद्गुणप्रसृतसप्तसमुद्रकैस्तैः ।
वर्षाणि वै नव तु यानि सुकीर्त्तितानि
यूयं निबोधत सुसूक्ष्मसुवोऽखिलास्ताः ॥ २५ ॥

गन्धर्वकिन्नरगणा अपि सिद्धसंघा
विद्याधरा अथ च गुह्यकयक्षकाद्याः ।
येऽन्ते च सूक्ष्मवपुषोऽमरयोनयस्ते
द्वीपेषु सप्तसु वसन्ति च वर्षकेषु ॥ २६ ॥

जाम्बूद्वीपे भारतं वर्षमाद्यं
तद् वै प्रोक्तं मृत्युलोकादभिन्नम् ।
आम्नातास्ते तस्य भेदा नवाख्याः
प्राचीनैस्तैः सर्वविद्भिर्मुनीन्द्रैः ॥ २७ ॥

इन्द्रद्वीपस्ताम्रपर्णो गभस्ति-
र्नागद्वीपः सौम्यको वारुणश्च ।
गान्धर्वः कासेरुकः सागराख्यः
प्राचीनास्ते मृत्युलोकस्य भागाः ॥ २८ ॥

सर्वश्रेष्ठो मृत्युलोकोऽयमास्ते
यस्मात् सैषा प्रोच्यते कर्मभूमिः ।
कर्मस्वातन्त्र्यं शरीरांसि चात्र
नान्यत्रैतत् सम्मतं शास्त्रविद्भिः ॥ २९ ॥

अत्रैवैतेषां युगानां प्रभावः
सत्यत्रेताद्वापराणां कलेश्च ।
एतद्भिन्ने नास्ति चान्यत्रलोके
सिद्धान्तोऽयं सर्वशास्त्रेषु गीतः ॥ ३० ॥

भुवर्लोकमध्ये ग्रहास्तारकाद्या
अनन्ता दरीदृश्यमाना लसन्ति ।
तदन्ते ध्रुवो राजते यः स्थिरोऽस्ति
समे तेन विष्वक् परिभ्राम्यमाणाः ॥ ३१ ॥

ध्रुवो महाकर्षणशक्तिशाली
विराजते सर्वत उत्तरस्याम् ।
खेटादिसप्तर्षिवियत्स्थिताना-
माकर्षकोऽयं कथितो मुनीन्द्रैः ॥ ३२ ॥

तदाकर्षणादेव भूचक्रकीलः
सुसन्तिष्ठते ह्यूर्ध्वभागे सदैव ।
धरित्रीस्थविद्युद्गतिश्चापि नित्यं
सरीसर्त्ति सा दक्षिणस्या उदीच्याम् ॥ ३३ ॥

अतः कारणादेव दिक्सूचकस्य
मुखं सर्वदाऽऽस्ते हि यन्त्रस्य सौम्ये ।
जलान्तःस्थपोतेऽन्धताच्छन्नदेशे
स्थितानां नृणां जायते दिक्प्रबोधः ॥ ३४ ॥

भुवोमण्डलेऽस्मिन् पुरःप्राच्यदेश्यै
र्नरैश्चापिविद्वत्प्रकाण्डैरशेषैः ।
शिरो मानचित्रस्य सौम्यस्थमेव
सदा मन्यते तन्निदानं तदेव ॥ ३५ ॥

स्वर्गो लोकस्तत्परो वेदितव्यः
पुण्यात्मानो यत्र गत्वा वसन्ति ।
गच्छन्त्येनं काम्यधर्मैरता ये
शास्त्रे गीतो यस्य शास्ता महेन्द्रः ॥ ३६ ॥

महर्लोक योऽसौ जनाख्यश्चलोकः
तपःसत्यलोकौ सदभ्यर्थनीयौ ।
उपर्य्यास्थिताः स्वर्गतस्ते क्रमेण
महात्मान एवाधितिष्ठन्ति चैतान् ॥ ३७ ॥

निम्नस्थितेषु भुवनेषु हि सप्तकेषु
त्रैविष्टपारिविविधासुरसेवितेषु ।
अत्यन्तघोरतमसः सुखमस्ति तेषु
यद् वर्जनीयमिह सत्पुरुषैः सदैव ॥ ३८ ॥

मद्येषु मैथुनविधिष्वशुभक्रियासु
ह्यत्यन्तनिन्द्यपिशिताशनगर्हितासु ।
सर्वेषु चेन्द्रियसुखेष्वतितामसेषु
मोमुद्यमानमनसो विचरन्ति दैत्याः ॥ ३९ ॥

ये भुञ्जते भुवि निजाधिकृतं सुखं हि
ते देवतुल्यमनुजाः सकलार्हणीयाः ।
ये चान्यदीयसुखवैभवमाहरन्तो
लोके चरन्ति गदिताः किल तेऽपि दैत्याः ॥ ४० ॥

कामा निरन्तरमहो परिभोगतस्ते
तृप्तिं न यान्ति कुटिला बत कामयन्ते ।
सौख्यं नवं नवमनारतमेव यत्नान्
दुष्टा इवेह पशवः कवलं तृणानाम् ॥ ४१ ॥

ऊर्ध्वस्थितेषु भुवनेषु च सौख्यसत्ता
त्रिष्वस्ति तेन दनुजाः कलहायमानाः ।
जित्वा शतक्रतुमथान्यवरांश्चदेवान्
निःसारयन्ति बहुधा सुरलोकतस्तान् ॥ ४२ ॥

आधिपत्यं च नैजेन्द्रियाणां गणे
कुर्वते ये मताः साधवः सत्तमाः ।
ते महर्लोकमासाद्य मोदान्विता
वासमातन्वते तत्र निर्भीतयः ॥ ४३ ॥

कर्तुमीशा मनोनिग्रहं ये नरा
योगिनां ते वरेण्याः सदभ्यर्हिताः ।
ते जनाख्यं प्रपद्याशुलोकं परं
वीतरागैः समं संवसन्ति ध्रुवम् ॥ ४४ ॥

बुद्धितत्त्वेऽधिकारं च ये बिभ्रते
वन्दनीयेषु ते वन्दनीया मताः ।
दर्शने नैव येषां च पापक्षय-
स्ते तपोलोकमासदयन्तेऽमलम् ॥ ४५ ॥

यैस्तु सालोक्यसामीप्यसारूप्यतः
ख्यातिमाप्ता विमुक्तिः समासादिता ।
स्वेष्टदेवेषु येषां रतिः सात्त्विकी
सत्यलोकं गतैर्ब्रह्मणा युज्यते ॥ ४६ ॥

मृत्युलोकातिरिक्तास्तु लोकाश्च ये
स्थूलनेत्रैर्नरैर्दर्शनीया न हि ।
सूक्ष्मरूपा अतो ज्ञानविज्ञानभृद्
दर्शनैर्द्रष्टुमर्हा विपश्चिद्वरैः ॥ ४७ ॥

ऊर्ध्वं चाधोलोकसंस्थानमेतज्
ज्ञानाज्ञानात् तद् बुधैर्बोधनीयम् ।
सत्त्वासत्त्वाद् वापि गीतं पुराणैः
शीर्षादूर्ध्वं नैव तत्कल्पनीयम् ॥ ४८ ॥

राजानुशासनमिदं नहि नाकतोऽस्मा-
दूर्ध्वस्थितेषु महरादिचतुष्टयेषु ।
लोकेषु विद्यत इति प्रथितोऽत्रहेतु-
र्व्यर्थायते सततशिष्टजनेषु शिष्टिः ॥ ४९ ॥

शिरः कण्ठहृन्नाभिगुह्यादिदेशाः
शरीरे करौ पादयुग्मं यथा हि ।
तथा सन्ति ते ब्रह्मणश्चाण्डकेऽपि
सुधीभिर्मनोयोगतो बोध्यमेतत् ॥ ५० ॥

जनाख्यस्तपः सत्यलोकौ त्रयस्ते
मताः शीर्षभूता महर्लोककण्ठः ।
महेन्द्रस्य लोकोऽस्त्यसौ हृत्स्वरूपो
मतौ भूर्भुवौ लोककौ नाभिभूतौ ॥ ५१ ॥

अधस्तात् स्थिताः सन्ति ये सप्तलोका
सुसंकीर्त्तिता गुह्यदेशस्वरूपाः ।
करौ लोकलोकौ पदे पादकुक्षौ
सुमेरुर्मतो मेरुदण्डस्त्वमीषाम् ॥ ५२ ॥

लंका कुमध्ये यमकोटिरस्याः
प्राक् पश्चिमे रोमकपत्तनं च ।
अधस्ततः सिद्धपुरं सुमेरुः
सौम्येऽथ याम्ये वडवानलश्च ॥ ५३ ॥

ज्योतिःशास्त्रे गीतमास्ते मतं तत्
प्रायो विद्वद्भिः परिज्ञातमास्ते ।
लंका चैषां केन्द्रभूता विशोध्या
ज्योतिर्ज्ञानं साध्यते विद्भिरस्याः ॥ ५४ ॥

लंकाऽधुना या कथिता मनुष्यै-
र्नासौ पुराणी परिचिन्तनीया ।
एतर्हि साऽन्यत्र समुद्रमध्ये
कालप्रभावादभवद् विलीना ॥ ५५ ॥

जनुष्मतां सर्वविधेषु वस्तुषु
धरातलेऽस्मिन् विलसत्सु सर्वथा ।
प्रभावपातादमिताच्च तद् ग्रहात्
ग्रहा मताश्चेतनशक्तयोऽद्भुताः ॥ ५६ ॥

सूर्योऽयमास्तेऽखिल विश्रुतो ग्रह-
स्तस्योदयाद् वै प्रथमं धरातले ।
सर्गादिकाले प्रबभूव वासर-
स्तदीय एवेति मतं विपश्चिताम् ॥ ५७ ॥

काले तु तस्मिन् प्रथितैः सुधीश्वरैः-
र्मधोः सिताद्यातिथिरस्तिमानिता ।
ततोनु तद्वासरमासहायन-
क्रमोऽभवद् भूमितले प्रवर्त्तितः ॥ ५८ ॥

इमां धरित्रीं परितः शशीबुधः
कवीरविर्भूमिसुतो बृहस्पतिः ।
शनैश्चरोऽनुक्रमतस्तथोर्ध्वगा
भ्रमन्ति कक्षासु निजास्विमे ग्रहाः ॥ ५९ ॥

खगोलमध्ये क्रमशस्तु ये ग्रहा-
स्तेषां चतुर्थो दिननाथ ईरितः ।
आरभ्य सूर्याद् गणनाद् य आपतेत्
परेऽह्नि तस्यैव दिनं क्रमाद्भवेत् ॥ ६० ॥

प्रातरास्ते यदीयोदयस्तत्परम्
एकहोरात्मकस्तस्य कालो मतः ।
तत्परस्ताद् द्वितीयस्य चेत्थं क्रमाद्
पञ्चविंशोऽस्ति कल्ये स चाह्नःपतिः ॥ ६१ ॥

सर्वखेटेषु तत्स्वानुकूल्यं गताः
प्राणिनः सन्ति चेत्थं मतं वैदिकम् ।
किन्तु तत्रास्ति वासो नराणां नहि
शाश्वतः सम्भवश्चेति निश्चप्रचम् ॥ ६२ ॥

ब्रह्माण्डस्यैकस्य ये सन्ति लोका-
स्तेषां विद्यन्तेऽप्यनेके विभागाः ।
सत्याः सम्यक्कीर्त्तिता ये पुराणे
विज्ञेयास्ते ह्यार्षदृष्टिप्रसादात् ॥ ६३ ॥

ब्रह्माण्डकस्यास्य समन्ततश्चिरात्
तद्राशयो ये विलसन्त्यसंख्यकाः ।
रजःकणानां गणना तु सम्भवा
परन्तु तेषां नहि चेति निश्चयः ॥ ६४ ॥

सृष्टिं विधिश्च परिरक्षणमस्य विष्णुः
रुद्रश्च संहरणमेव हि संविधत्ते ।
आयुः समाप्य तु निजं प्रलयान्तकाले
ब्रह्माम्बुधौ सुविमले विलयं प्रयान्ति ॥ ६५ ॥

ब्रह्मा विष्णू रुद्र एते त्रयोऽपि
ब्रह्माण्डेषु स्वासते भिन्नभिन्नाः ।
ब्रह्माण्डस्यान्यस्य कार्यं विशोद्धुं
विद्यन्ते ते नैव सामर्थ्यभाजः ।। ६६ ।।

ब्रह्माण्डानां वर्ततेऽनन्तकोटिः
संख्या नूनं तत्पतिस्त्वेक एव ।
मायाधीशः सोऽस्ति, तस्येङ्गितेन
ब्रह्माद्यास्ते पालयन्ते स्वकृत्यम् ।। ६७ ।।

ब्रह्माण्डपुञ्जा विलसन्ति यस्य
रोम्णः स्थिताश्चैकविभागमध्ये ।
तद् ब्रह्म चिद्रूपमनाद्यनन्तं
विज्ञेयमेकं परमद्वितीयम् ।। ६८ ।।

नास्ते भिन्नं तस्य सत्तातिरिक्तं
किञ्चिद् वस्तु प्राकृतं बुद्धिगम्यम् ।
चैतन्यं यत् तद्धि तद्रूपमेव
सत्यं ब्रह्मैवान्यत्सर्वं तु मिथ्या ।। ६९ ।।

समस्तभुवनीवनीविहरणस्य साधोरिदं
निपीय वचनामृतं सकलशास्त्रसारं परम् ।
अमुः परमयोगिनश्चरणचञ्चरीकायिताः
प्रसन्नवदनाम्बुजाः सुविदुषां वरेण्याःसमे ।।७०।।

इति श्रीकविवर्यविन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिविरचिते
महर्षिश्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्य
एकोनविंशः सर्गः ॥

अथ विंशः सर्गः

अथैकदाऽभूदिह काशिकायां
सम्मेलनं रम्यमभूतपूर्वम् ।
समस्त भूखण्डवरैशियायाः
शिक्षाविदां विद्वदपश्चिमानाम् ॥ १ ॥

कामाख्यदेवी निकटस्थ हिन्दू-
विद्यानिकेतप्रसरे वरेण्ये ।
खैस्ते वियद्वह्निनवेन्दुवर्षे
दिसम्बरस्यान्तिमसप्तके च ॥ २ ॥

जापानचीनारबकाबुलेभ्यः
काम्बोजकाकेशयसिंहलेभ्यः ।
जावासुमात्रावरवाह्लिकेभ्यः
पारस्यवर्मानयपालकेभ्यः ॥ ३ ॥

अस्यार्यदेशस्य च भारतस्य
मद्रान्ध्रसौराष्ट्रकलिङ्गकेभ्यः ।
पाञ्चालशाल्वाङ्गकवङ्गकेभ्यः
प्रान्तेभ्य एभ्योऽपि तथाऽन्यतोऽपि ॥ ४ ॥

पौरस्त्यपाश्चात्यविभिन्नशिक्षा-
प्रावीण्यभाजां बुधपुङ्गवानाम् ।
सहस्रशः शिक्षणवित्तमानां
सम्मर्द आसीत् समुपस्थितोऽत्र ॥ ५ ॥

विज्ञानसद्दर्शनशिल्पशास्त्र-
मर्मज्ञदोपज्ञवराह्यनेके ।
सर्वत्र ये ये प्रथिताः सुधीन्द्राः
शिक्षाविधिज्ञा उपतस्थिवांसः ॥ ६ ॥

पाश्चात्यदेशेभ्य इहाप्यनेके
शिक्षाविशेषज्ञतया प्रसिद्धाः ।
मनीषिणः शिक्षणविश्रुतास्ते-
ऽपीयुर्विशिष्टेन निमन्त्रणेन ॥ ७ ॥

एतेषु केचित्सुधियोऽस्य साधो-
र्यशः समाकर्ण्य विमुग्धचित्ताः ।
जिज्ञासवः शिक्षणलक्ष्यमर्ह्यं
डुढौकिरे तच्चरणारविन्दम् ॥ ८ ॥

पप्रच्छुरेते विनयेन योगिन् !
भवांस्तु तत्त्वज्ञवरः श्रुतो नः ।
किमस्ति लक्ष्यं किल शिक्षणस्य
प्रसद्य नो व्याहरतु प्रपन्नान् ॥ ९ ॥

सभाजयंस्तान् निजसाधुवादैः
सुस्वागताद्यापचितिं प्रयुज्य ।
यत्नान्प्रतिष्ठाप्य वरासनेषु
तदुत्तरं दातुमसौ प्रवृत्तः ॥ १० ॥

शक्तेर्न भिन्नो निजदाहिकाया
वह्निश्च गाता निजगानशक्तेः ।
तथैव तद्ब्रह्म तदीयशक्त्या
न भिद्यते चेति मतं श्रुतीनाम् ॥ ११ ॥

चैतन्यतच्छक्तिविभिन्नतायाः
प्रतीतिराहित्यविवेक एव ।
अद्वैतसिद्धेः स हि बीजमन्त्रो
यः प्राणिनां जीवनलक्ष्यमास्ते ॥ १२ ॥

जीवप्रवाहोऽयमनन्तशक्तौ
चिदम्बुधौ सर्वनिदानभूते ।
धावन्नबाधः प्रभवेद् विलीनः
शिक्षाविधेर्लक्ष्यमिदं वरेण्यम् ॥ १३ ॥

द्विधा विभज्यैव निजं स्वरूपं
सा ब्रह्मशक्तिर्भुवि बन्धमोक्षौ ।
ददात्युभौ जागतिकासुमद्भ्यः
सिद्धान्त एषोऽखिलशास्त्रसिद्धः ॥ १४ ॥

तस्यास्तु विद्या च तथाप्यविद्या
भेदद्वयं चेति मतं श्रुतीनाम् ।
आद्या तु निर्वाणपदं प्रदत्ते
बन्धस्य हेतुर्गदिता द्वितीया ॥ १५ ॥

अन्तर्जगद्रूपमनन्तपारं
तद् ब्रह्मराज्यं ह्यनुभूतिगम्यम् ।
दुरूहमादर्शयतेतरां या
निजाश्रितान्ते वसतः सदैव ॥ १६ ॥

सर्वापदां संशमनी प्रपन्ना
समान् समानन्दयते प्रसन्ना ।
ज्ञानस्य चैका जननी नमस्या
सत्त्वात्मिका सर्वसुखैकहेतुः ॥ १७ ॥

विज्ञानिनो भक्तवरान् स्वकीयान्
स्वरूपसंदर्शनपूर्वकं हि ।
आनन्दरूपाम्बुनिधावपारे
निमज्जयन्ती च निमज्जिता च ॥ १८ ॥

आत्मोन्मुखाञ्जीवगणान् विधत्ते
तेभ्यो द्रुतं मुक्तिपदं प्रदत्ते ।
चक्षूंषि चोन्मीलयते जनानां
विद्याऽस्ति सा मोक्षनिदानभूता ॥ १९ ॥

अज्ञानजालं परिसारयन्ती
जीवान् प्लवङ्गानिव नर्त्तयन्ती ।
मायामयेऽशान्तिदुःखपाशे
ह्यज्ञानिनो हन्त निपातयन्ती ॥ २० ॥

क्रीड़ास्थली चास्ति सदैव यस्या
बहिर्जगद् यच्च तमःप्रधानम् ।
आस्ते जनन्यासुरसम्पदां या
सदा सदाचारविधे विरुद्धा ॥ २१ ॥

प्रसारिता ज्ञानतमोविताना
जीवान् स्वरूपाद् विमुखं नयन्ती ।
सृजत्यशेषं भ्रमरूपविश्वं
सैवास्त्यविद्येति वदन्ति विज्ञाः ॥ २२ ॥

यद् भ्रान्त्यविद्याप्रभवं दुरन्तं
प्रत्यूहवर्गं सकलं निरस्यत् ।
विद्यां श्रयत् सत्यनिजात्मबोधं
प्रकाशयेत् तद् भुवि शिक्षणं सत् ॥ २३ ॥

धर्मस्य मोक्षस्य सुखस्य किं वा-
ऽधर्मस्य बन्धस्य तथाप्यशान्तेः।
महर्षिवर्याः सदसत्कृतीना-
मन्तःकृतिं कारणमामनन्ति ॥ २४ ॥

चित्तं मनोबुद्धिरहङ्कृतिश्च
चत्वार एते हि तदीयभेदाः।
एतान् समाश्रित्य जगत्यशेषा
बोभूयते कृत्यततिः सदैव ॥ २५ ॥

शश्वन्मनोनर्तनकारि चित्तं
यदस्ति संस्कारनिधानभूतम्।
तेनैव नित्यं परिचाल्यमानं
मनोऽस्ति संकल्पविकल्पकर्तृ ॥ २६ ॥

निश्चायिका वृत्तिरियं तदीया
या सैव बुद्धि र्विबुधैर्विबोध्या।
तस्याः समुन्नायनमेव यत्नात्
शिक्षाविधिज्ञैः सुविधेयमास्ते ॥ २७ ॥

अहङ्कृतिर्भेदकतत्त्वरूपा
स्वतन्त्रसत्तापरिदर्शिका च।
अज्ञानबीजाङ्कुरहेतुभूता
सैवास्ति सर्वापदनर्थमूला ॥ २८ ॥

यस्याः प्रभावात् परमद्वितीयं
ज्ञानस्वरूपं सदनन्तमेकम्।
प्रतीयतेऽस्यां भुवि भिन्नभिन्नं
तद् रोधनं शिक्षणलक्ष्यमास्ते ॥ २९ ॥

सूक्ष्मेक्षिकाऽऽलोचनशालिशीलै-
विद्वद्वरेण्यैरवधार्यमेतत् ।
अन्तर्विभागो मनसोऽस्ति चित्तं
बुद्धेरहंकार इतीर्यते च ॥ ३० ॥

यश्चेतसः प्रेरणयैव नित्यं
मनस्यनेके ह्युदयन्ति भावाः ।
स्वाहङ्कृतेर्वेगत एव बुद्धौ
जागर्त्ति शश्वत् सदसद्विवेकः ॥ ३१ ॥

अत्यन्तसूक्ष्मेक्षिकया विचारे
विधीयमाने तु विभाति चैतत् ।
शुद्धं त्वशुद्धं च मनो द्विरूपं
तत्त्वज्ञविद्भिः परिकीर्तितं तत् ॥ ३२ ॥

शुद्धं मनस्त्वात्ममुखं त्वशुद्धं
दासायते स्वेन्द्रियसन्ततीनाम् ।
आत्मोन्मुखी चेन्द्रियगामिनी वा
बुद्धिर्नराणां द्विविधा विबोध्या ॥ ३३ ॥

निजेन्द्रियाण्याश्रितया च बुद्ध्या
ह्यशुद्धिभाजा मनसा तु यानि ।
कार्याणि कुर्वन्ति नराश्च तेषा-
मुदर्कभूतो विषयप्रमोदः ॥ ३४ ॥

या बुद्धिरात्मोन्मुखतां प्रपन्ना
मनश्च शुद्धं द्वयमेकमेव ।
एतद्द्वयी रम्यकृतेरुदर्के
आत्मानुभूतिर्हि ततस्तु मोक्षः ॥ ३५ ॥

शिक्षाप्रणाल्यां जगतीह यस्या-
मशुद्धिभाजो मनसश्च बुद्धेः ।
निजेन्द्रियग्रामसुसंरताया
निरन्तरं लालनपालनं स्यात् ॥ ३६ ॥

तस्या उपादानमनर्थमूल-
मशान्तिदं शर्मसमूलनाशम् ।
स्वरूपविज्ञानविरोधि तस्माद्
यत्नात् परित्याज्यमदः सुधीभिः ॥ ३७ ॥

यस्यां तु विद्यासमुपासनेन
शुद्धं मनस्त्वात्मपरा च बुद्धिः ।
विकासिते स्तः क्रमशः सदैव
सैवास्ति शिक्षासरणिः शुभंयुः ॥ ३८ ॥

एतत् सुसिद्धान्तवरेण्यभित्तौ
प्रतिष्ठितं शिक्षणरूपदुर्गम् ।
समाश्रयन्तो मनुजाः कदापि
ग्रस्ता भविष्यन्ति न ते विपद्भिः ॥ ३९ ॥

स्वदेश एवास्त्यखिलं धरित्री-
तलं, समस्तोऽपिच जीववर्गः ।
आत्मस्वरूपो न हि कोऽपि भिन्नः
शिक्षाविधेर्लक्ष्यमनुत्तमं तत् ॥ ४० ॥

अन्योन्यसंघर्षकरान् विभेदान्
अपास्य या शिक्षयते जगत्याम् ।
सौमित्रभावं नृषु सैव शिक्षा
प्रचारणीया सततं सुधीभिः ॥ ४१ ॥

व्यक्तौ च जातावपि मौलिका ये
भावा निजाः सन्ति सुविद्यमानाः ।
तेषां समुद्भावनमेव सत्य-
मुद्देश्यमास्ते भुवि शिक्षणस्य ॥ ४२ ॥

हयत्वहस्तित्वविकासयित्री
शिक्षोचिता सा हयहस्तिनोर्हि ।
तथैव नारीत्वनरत्वयोर्या
विकासिनी सैव मता सुशिक्षा ॥ ४३ ॥

जगत्पितुश्चापिजगज्जनन्या-
कलांशमाश्रित्य नराश्च नार्यः ।
आविर्भवन्तीति सुसूक्ष्मदर्शि-
महर्षयो वेदविदो वदन्ति ॥ ४४ ॥

शिक्षाविधानाच्च नरेषु यस्मा-
दीशस्य नारीषु जगज्जनन्याः ।
सम्पूर्णभावाः सुविकासमीयु
स्तस्माद्धि तत्तद्धितसाधनं स्यात् ॥ ४५ ॥

स्थूलं च सूक्ष्मं त्वथ कारणं च
शरीरमास्ते त्रिविधं समेषाम् ।
यया नृणां सर्वसमुन्नतिः स्यात्
प्रचारणीया भुवि सैवशिक्षा ॥ ४६ ॥

या प्राणिनां मङ्गलसाधयित्री
सदैव तन्मानसमोदयित्री ।
संक्षेपतः साह्यपरा परेति
द्विभेदभिन्नाः गदिताऽस्ति विद्या ॥ ४७ ॥

श्रुतिः स्मृतिर्व्याकरणं पुराणं
विज्ञानशिल्पानि च दर्शनानि ।
जगत्यशेषः किल वाङ्मयानां
व्रातोऽपरान्तर्गत एव वेद्यः ॥ ४८ ॥

यदक्षरं सर्वगतं पुराणं
शान्तं च सच्चिद्घनमद्वितीयम् ।
अनाद्यनन्तं सुखवृन्दमूलं
विज्ञायते तद्धि यया परा सा ॥ ४९ ॥

विद्याद्वयीभ्यां च पराऽपराभ्यां
समेधिताभ्यां परिपूर्णरूपा ।
या चास्ति शिक्षासरणिः प्रशस्ता
विस्तारणीया जगतीह सैव ॥ ५० ॥

याऽऽस्ते कलाकौशलशिल्पसम्पत्
पदार्थविद्या विविधप्रकारा ।
अत्यन्तसूक्ष्मा परमाणुशक्ति-
स्ता एव लक्ष्यं न हि शिक्षणस्य ॥ ५१ ॥

समस्तया या ह्यधिभूतशक्त्या
तेजस्विना दैवबलेन चापि ।
अत्युन्नताध्यात्मिकचिन्तया च
युनक्ति लोकं शुभशिक्षणं तत् ॥ ५२ ॥

देहो मनो बुद्धिरथान्तरात्मा
यया विकासं परियन्ति सर्वे ।
नृणां हिता शिक्षणपद्धतिः सा
सर्वाङ्गपूर्णा कथिता मुनीन्द्रैः ॥ ५३ ॥

कामार्थधर्मामृतमोक्षनाम्ना
चतुर्विधा ये पुरुषार्थवर्गाः ।
ते शूद्रविट्क्षत्रियभूमिदेवैः
संसेवनीयाः क्रमशः सदारैः ॥ ५४ ॥

सर्वेषु देशेषु वसद्भिरेतै-
र्वर्णैश्चतुर्भिः परिषेवणीयाः ।
चत्वार उक्ताः पुरुषार्थवर्गा
अन्तर्भवत्येषु हि सर्वसिद्धिः ॥ ५५ ॥

निजं निजं सत्पुरुषार्थभावं
परस्परं प्रेम समेधमानम् ।
चतुर्षु वर्णेषु च बाल्यकालाद्
या वर्धयेत् सैव मता सुशिक्षा ॥ ५६ ॥

प्रयोजनीयत्वमिहास्त्यवश्यं
कामार्थयोश्चापि नितान्तमेव ।
परन्तु शिक्षासरणेर्हि लक्ष्या-
वङ्गीकृतौ ताविह धर्ममोक्षौ ॥ ५७ ॥

निष्कामतो या निजधर्मसेवा
तयैव पूज्या मनुजा भवन्ति ।
वृथा जनुर्गर्वरतिस्तु नैव
शिक्षा समुद्देश्यमदोऽवधेयम् ॥ ५८ ॥

आगर्भधानान्निजबालकेभ्यो
वर्णानुकूला पुरुषार्थशिक्षा ।
दीयेत चेत्तर्हि मनुष्यजातिः
समुन्नतिं सर्वविधां भजेत ॥ ५९ ॥

विद्या मतिर्लोकबलं च धर्म
ऐश्वर्यमेतानि समेधितानि ।
समुन्नतीनां शिखरेषु लोकान्
संस्थापयन्त्यत्र न संशयोऽस्ति ॥ ६० ॥

सद्धर्मनीतेश्च सुराजनीतेः
सदर्थनीतेः सुसमाजनीतेः ।
आधारभूताऽखिलसद्गुणानां
शिक्षैव मूलं त्वथ सभ्यतायाः ॥ ६१ ॥

आध्यात्मिकीमुन्नतिमेति नित्यं
सद्धर्मनीत्यैव मनुष्यजातिः ।
अस्याद्भुतोदाहृतयो ह्यनेका
लभ्याः पुराऽस्यां भरतस्य भूमौ ॥ ६२ ॥

यया प्रजायाश्च तथैव राज्ञः
मर्यादितः स्यान्निजतन्त्रतायाः ।
भावः समुछृङ्खलताविरोधी
शुभावहा सैव हि राजनीतिः ॥ ६३ ॥

प्रजाजनानामथ शासकाना-
मन्योन्यसद्भावसहानुभूत्या ।
सद्धर्मशिक्षात्मकशासनं स्यात्
तत्रैव शान्तिः सुखसम्पदश्च ॥ ६४ ॥

अधार्मिकं शासनमासुरांशं-
धर्म्यं च दैवांशमिति प्रगीतम् ।
एतादृशी शिक्षणरीतिरास्तां
यया न धर्मो निरपेक्षितोऽस्तु ॥ ६५ ॥

अन्तेवसन्तो निखिला गुरूणां
सतां कुलेष्वेव सदा वसन्तः ।
सब्रह्मचर्याध्ययनं चरन्तो
विनीतिशिक्षामधियन्तु सर्वे ॥ ६६ ॥

आद्याश्रमे यत् परिशीलितं स्यात्
आजीवनं विस्मरणं न चैति ।
यथाऽऽमभाण्डेषु निषक्तरागः
सन्तिष्ठतेऽसौ, विकृतिं न याति ॥ ६७ ॥

सशुल्कशिक्षाध्ययनेन नूनं
विनाशितोऽभूद् गुरुशिष्यभावः ।
अतः समाजाभ्युदयप्रदात्री
निःशुल्कशिक्षा प्रचरेत् पुरेव ॥ ६८ ॥

अध्यापको हन्त भवेन्न तुष्टो
विद्यार्थिनः स्वाचरणैस्तु यस्य ।
उच्चारतुल्यः स पितुश्चमातु-
र्देशस्य जातेश्च कलङ्क एव ॥ ६९ ॥

राष्ट्रस्य नैजस्य तु कर्णधारो
भावी मतो बालकसंघ एव ।
अतोऽधुना शिक्षणकर्णधारैः
शिक्षाविधानं परिवर्त्तनीयम् ॥ ७० ॥

पुरायुगे मानवसन्ततीनां
विद्याजनुर्भ्यां द्विविधः प्रवाहः ।
आद्यो वरोऽभूदपरस्तु गौण
इतीरितं ज्ञानधनैर्बुधेन्द्रैः ॥ ७१ ॥

इच्छेज्जयं सर्वत एव विद्वान्
परन्तु शिष्यात्तु पराजयं हि ।
भावः स्तुतः सैष पुनर्जगत्यां
प्रचारणीयोऽखिलशिक्षकेषु ॥ ७२ ॥

एकाक्षरस्यापि च यः प्रदाता
तस्यार्णकं काञ्चनकोटिभिश्च ।
अपाकृतं नैवमिति ब्रुवाणः
सुशिष्य एषोऽस्त्यपरः कृतघ्नः ॥ ७३ ॥

खनन् खनित्रेण यथा मनुष्यो
जलं धरित्र्या अधियात्यवश्यम् ।
तथैव शुश्रूषुरशेषविद्यां
गुरुस्थितां संलभतेऽचिरेण ॥ ७४ ॥

उत्तङ्ककौत्साऽऽरुणिकादिशिष्यै-
रतीतसंख्यैर्भरतस्य भूमौ ।
प्रदर्शितो यो गुरुभक्तिभाव-
स्तत्कारणं किं ननु मृग्यमेतत् ॥ ७५ ॥

तद् द्वारवङ्गाधिपतेश्च राज्यं
विद्यार्थिना सद्गुरुभक्तिभाजा ।
केनापि विद्यागुरवे निजाय
प्रदत्तमस्तीति च को न वेद ॥ ७६ ॥

शिविर्हरिश्चन्द्रनृपो दधीचिः
रघुर्दिलीपोऽपि च रामचन्द्रः ।
अजातशत्रुप्रभृति क्षीतीन्द्राः
शिक्षाप्रभावेण हि जज्ञिरेऽत्र ॥ ७७ ॥

निरामयं ध्वस्तसमस्तशोकं
तद्रामराज्यं परमादृतं च ।
शिक्षाविधानेन पुनर्जगत्यां
समुल्लसेद् येन वरं तदेव ॥ ७८ ॥

भाषाप्रभावोऽपि च बालकेषु
पतत्यवश्यं सुविचार्य चैतत् ।
प्रचारणीयं वचनं सुराणां
भुवो वनं येन च दैवतं स्यात् ॥ ७९ ॥

वैज्ञानिकाऽऽविष्कृतयस्समस्ता-
स्ता देवभाषासुनिबन्धिताश्चेत् ।
आकल्पमासां भुवने प्रणाशो
न सम्भवेत् सैव यतोऽमृताऽस्ति ॥ ८० ॥

सर्वा इमाः संस्कृतमाध्यमेन
संशिक्षणीया यदि सम्भवेयुः ।
न नाशमीयुर्न च कोऽपि तासां
दुष्टोपयोगं किल कर्त्तुमीशः ॥ ८१ ॥

शश्वल्लसद्देवसरस्वतीतो-
ऽतिरिक्तवाण्यः परिवर्त्तशीलाः ।
व्रजन्त्यपायं ह्यतएव तत्स्थो
विज्ञानराशिर्न चिराय तिष्ठेत् ॥ ८२ ॥

ये देव भाषाममृतामनिन्द्यां
निन्दन्ति हा हन्त मृतां वदन्तः ।
तस्यास्तु सद्रूपनिरूपणे ते
भ्रान्तिं गताः सन्ति विवेकिनोऽपि ॥ ८३ ॥

रूपान्तरं वा परिवर्त्तनं वा
मृत्योर्बुधा लक्षणमामनन्ति ।
आसर्गकालादपि देववाणी
दृष्टा विपश्चिद्भिरिहैकरूपा ॥ ८४ ॥

एतर्हि पाश्चात्यमनीषिभिर्या
प्रचारिता शिक्षणरीतिरेषा ।
सा सर्वथाऽऽध्यात्मिकलक्ष्यशून्या
निभाल्यते धर्मबहिर्मुखी च ॥ ८५ ॥

तदीयशिक्षासरणौ त्वविद्या-
विद्याविमर्शस्य च लेशतोऽपि ।
सद्भावना नास्ति ततः कथं स्या-
दास्थाऽत्र शिक्षाविदपश्चिमानाम् ॥ ८६ ॥

निःश्रेयसस्याभ्युदयस्य चैव
प्राचीनशिक्षासरणौ वरेण्यौ ।
भावो यथाऽऽसीन्न तथा प्रतीच्यां
शिक्षासरण्यामिति निर्विवादम् ॥ ८७ ॥

पदार्थविद्याद्भुतबोधराशेः
शिल्पोन्नतेश्चाप्यथ युद्धरीतेः ।
संशिक्षणं धर्मसमाजराज-
नीतेश्च तद्भौतिक सौख्यमूलम् ॥ ८८ ॥

परात्मविज्ञान - विहीनशिक्षा-
रीतेरवश्यम्भव दुर्विपाकः ।
नरैः समग्रैरखिलेऽपि देशे-
ऽनुभूयतेऽन्तेऽनुभविष्यते च ॥ ८९ ॥

अजस्रमुद्यंस्तमसः प्रवाहः
शिक्षाविधानैर्न निरुध्यते चेत् ।
यथा विनष्टा भुवि जातयोऽन्या-
स्तथैव चैषापि विनाशमीयात् ॥ ९० ॥

आपातरम्या सदुदर्कशून्या
विनाशयन्ती परधर्ममुग्रा ।
आमेरिकैर्योरपदेशजैश्च
प्रचार्यते सम्प्रति कूटशिक्षा ॥ ९१ ॥

पुरातनो रोमनजातिजातो
विख्यातनामा "सिसिरो" विपश्चित् ।
स आङ्लवंशोद्भव "मेक्ले" च
तयोस्तनूजा किल कूटशिक्षा ॥ ९२ ॥

छलं तथाच्छद्मसमाश्रयद्भिः
विनाशयद्भिः परधर्मरूपम् ।
अटाव्यया धर्ममिषेण नित्यं
चरद्भिरन्यैः परिपाल्यते सा ॥ ९३ ॥

कोटिं व्ययीकृत्य सुवर्णराशिं
सुसज्जिताऽन्यैः समलङ्कृता च ।
सा ह्येशियायां भुवि भारते च
प्रयुज्यते हा विषकन्यकेव ॥ ९४ ॥

अजायताऽत्यन्तभयावहं यत्
पाश्चात्त्यदेशान् सकलान् ग्रसिष्णु ।
महत्तरं रौद्रमतीतयुद्धं
धरा समस्ताऽपि यतश्चकम्पे ॥ ९५ ॥

ततस्तु धर्मं समुपेक्षमाणा
तत्रत्यशिक्षाप्रगतिर्नितान्तम् ।
निरङ्कुशत्वं क्रमशो भजन्ती
बभूव सांसारिकभीतिहेतुः ॥ ९६ ॥

समाजबन्धः शिथिलीकृतोऽभूत्
ललङ्घ सीमानमपि त्रपायाः ।
उच्छृङ्खलत्वं च जगाम लोक-
स्तत्कारणं शिक्षणमेव नान्यत् ॥ ९७ ॥

प्रायेण पाश्चात्यनरैः स्वधर्मः
प्राणप्रियोऽप्यद्य निराकृतोऽस्ति ।
क्रूरां तदाचारततिं निभाल्य
चेखिद्यते साधुजनान्तरात्मा ॥ ९८ ॥

यैरादृतो नास्ति च कोऽपिधर्म-
स्ते नास्तिकाः सभ्यशिरोमणीन्द्राः ।
सदो विशेषेषु नराश्च नार्यो
निर्वाससो हन्त मिथश्चरन्ति ॥ ९९ ॥

धर्मोऽस्ति सर्वाभ्युदयस्य मूल-
मेनं निराकृत्य न काऽपि जातिः ।
प्राप्तुं समर्था भुवने कदाऽपि
समुन्नतिं वा सुखसम्पदं वा ॥ १०० ॥

प्राच्यप्रतीच्यगुणदोषविवेकयुक्तं
शिक्षास्वरूपमधिगम्य महर्षिवर्यात् ।
मोमुह्यमानमनसः सुधियो विनम्राः
प्रणम्य योगिनममुं स्वगृहाणि जग्मुः ॥ १०१ ॥

इति श्रीकविवर्यविन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिविरचिते
महर्षि श्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये
विंशः सर्गः ॥

अथैकविंशः सर्गः

अभ्रान्तसर्वविधसंविदपौरुषेयो
वेदो मतोऽस्ति समयत्रितयेऽप्यबाधः ।
ज्ञानात्मना च परमात्मनि नित्यरूपे
संतिष्ठते प्रलयकालमुपेत्य नित्यः ॥ १ ॥

शश्वत्तपः परमपूतमहर्षिवृन्द-
बाह्यावबोधविनिवृत्तिसमाधिभृत्सु ।
चेतस्सु सर्गसमये ह्यनुपूर्वमेव
संश्रूयते श्रुतिसमाह्वयवानतोऽसौ ॥ २ ॥

आध्यात्मिकं तदधिदैवमथाधिभूत-
मर्थत्रयं भुवि विकासयते तदीयः ।
प्रत्येकमन्त्र इति चान्तरदृष्टिशून्यः
साधारणो बुधजनो न विबोद्धुमर्हः ॥ ३ ॥

प्रज्ञा समाधिसुलभा च ऋतम्भरा यै-
रासादिता भुवनवन्द्यमहर्षिवर्य्यैः ।
तच्छेमुषीषु भगवत्प्रवणासु वेद
आविष्करोति नितरां त्रिविधं स्वमर्थम् ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिगुणान् प्रकृत्या
आश्रित्य तत्र विलसन्त्यधिकारभेदाः ।
अन्योन्यबाधजनकास्तु विरोधभावा-
स्तैरेव जाग्रति न सन्ति हि वस्तुतस्ते ॥ ५ ॥

कर्म ह्युपास्तिरथ संविदिति त्रिकाण्डो
वेदो मतो यदपि किन्तु वरेण्यभागः ।
कर्मैव तस्य मुनिभिर्निखिलैः श्रुतिज्ञै-
र्ब्रह्माण्डचालकतया परिगीत आस्ते ॥ ६ ॥

अम्ब्वाशयेषु च यथा पवमानवेगा-
दुज्जृम्भते सततमेव तरङ्गराशिः ।
तत्प्राकृतत्रिगुणजन्यतरङ्गसङ्गात्
कर्माविरस्त्यखिलविश्वनिदानहेतुः ॥ ७ ॥

आघाततोऽपि च यथा प्रतिघाततश्च
बिभ्रत्यसंख्यकवपूंषि जलोर्मिमालाः ।
वैषम्यभाजनतया च गुणत्रयस्य
कर्मापि धारयति नैजमनन्तरूपम् ॥ ८ ॥

सम्पातितं जलनिधौ प्रवहत्तृणं हि
प्राप्नोति कूलमनुकूलतरङ्गसङ्गम् ।
तद्वद्ध्रुवं मनुतनूजननोऽपि लोकः
संगृह्य कर्म शुभदं विजहाति बन्धम् ॥ ९ ॥

विज्ञाय तद् भुवि हिताहितकर्मरूपं
चेन्मानवः स्वपुरुषार्थविधौ प्रवृत्तः ।
निःश्रेयसं स्वपरमाभ्युदयेन साकं
प्राप्नोत्यवश्यमिह नास्ति वितर्कलेशः ॥ १० ॥

कर्माप्यकर्म च विकर्म च ये यथार्थं
पश्यन्ति ते वरधियो भुवनेषु धन्याः ।
कर्मण्यकर्म तदकर्मणि कर्म ये वा
जानन्ति ते सकलकर्मकृतां वरेण्याः ॥ ११ ॥

इत्थं हि कर्मगतयो गहना नितान्तं
याथार्थ्यतः सुपरिचिन्त्य च तत्स्वरूपम् ।
विज्ञानदर्शनवता पुरुषेण मोक्षः
सम्प्राप्यते जगति जीवनलक्ष्यभूतः ॥ १२ ॥

कर्मैव मूलमखिलस्य जगद्व्रजस्य
सृष्टिस्थितिप्रलयकर्मसु तन्निदानम् ।
वाणीपतेः पशुपतेः कमलापतेश्च
लोकोऽधिगच्छति पदं किल कर्मणैव ॥ १३ ॥

ग्रन्थि च चिज्जड़युतं रचयद्विचित्रं
मायामयं सकलबन्धनहेतुभूतम् ।
आनन्दचिद्घनविलासिनिजस्वरूपात्
कर्मैव जीवनिवहान् विदधाति भिन्नान् ॥ १४ ॥

उद्भिज्जधर्मजननाण्डजपिण्डजेषु
देहेषु वै चतुरशीतिषु लक्षकेषु ।
जीवान् सदैव हि समुन्नमयन् क्रमेण
कर्मैव मानवपदं वितरत्यमोघम् ॥ १५ ॥

कर्मैव जैवसहजैशगतीर्वितन्वन्
चक्रं गतागतमिदं परिपाति नित्यम् ।
निर्वाणमर्पयति सत्पदमेतदेव
ब्रह्माण्डसंघमनुतिष्ठति सुव्यवस्थम् ॥ १६ ॥

कर्मैव हेतुरिह वर्णचतुष्टयस्य
जन्मान्तरस्य च निदानमहो तदेव ।
अन्तर्जगत्सुपरिचालकहेतुभूत-
देवर्षिपितृविविधास्पदकारणं तत् ॥ १७ ॥

एतादृशातिशयविस्तृतकर्मराज्ये-
निर्देशकं किमपि दर्शनमस्ति नैव ।
तत्खण्डितत्वमिह दर्शनपद्धतीनां
माभासतेस्म मुनिकेसरिणोऽस्य चित्ते ॥ १८ ॥

तस्यासकृन्निशि विचिन्तयतोऽस्यभार-
द्वाजो मुनिः शमविविक्ततमे समाधौ ।
सूत्राण्यनेकविधकर्मकलापकानां
संलापकानि समयेन समादिदेश ॥ १९ ॥

अन्तर्जगत्सु विचरन्ति सदैव देवा
निस्त्वर्षयश्च परिशुद्धसदन्तरङ्गे ।
प्राप्ते निजानि विविधान्यनुकूलकाले
ज्ञानानि संप्रकटयन्ति तिरोहितानि ॥ २० ॥

दुर्बोधकर्मगतिदर्शकसूत्रजालं
सम्प्राप्य योगिवरपूजितपादपद्मः ।
भाष्येण तच्च महता परिभूष्य कर्म-
मीमांसनं पुनरसौ प्रकटीचकार ॥ २१ ॥

तच्चोत्तरार्द्धमृषिजैमिनिना प्रणीतं
यत्रास्ति यज्ञनिवहस्य विवेचनं हि ।
पूर्वार्द्धमेतदिति च द्वितयं मिलित्वा
कर्माख्यदर्शनमिदं परिपूर्णमास्ते ॥ २२ ॥

तत्कर्मकाण्डसुविवेचकशास्त्रमेतत्
पादैश्चतुर्भिरमलैः सुविभक्तमस्ति ।
संवर्धनाय सुधियां सुखसन्ततीनां
संदर्श्यते विशकलय्य हि तत्स्वरूपम् ॥ २३ ॥

आद्यो निरुक्त इह राजति धर्मपादः
संस्कारपाद इति नामधरो द्वितीयः ।
पादस्त्रितीय उदितो विमलः क्रियाख्यो
मोक्षाख्यया निगदितोऽस्ति चतुर्थपादः ॥ २४ ॥

सच्चासदप्यथ च धर्म उताप्यधर्मो
भेदावुभावभिहितौ किल कर्मणोऽस्य ।
तौ सम्मतौ च भुवने सुखदुःखमूलौ
तावेव पुण्यमपि पापमपि प्रगीतौ ॥ २५ ॥

त्यक्त्वा ह्यधर्ममथ धर्ममुपास्य लोका
विश्वोन्नतिं समधियन्ति ततश्च मोक्षम् ।
एतद्विचिन्त्य मुनिना प्रथमे तु धर्मा-
धर्मस्वरूपमिह पूर्णतया न्यगादि ॥ २६ ॥

संस्कारराशिरखिलोऽपि च किंस्वरूपः
के वस्तुतस्तु च भवन्ति तदीयभेदाः ।
तच्छोधनार्थमिह सन्ति च के ह्युपायाः
पादे विवेचितमिदं निखिलं द्वितीये ॥ २७ ॥

संस्कारशुद्धिजनितैव मता क्रियायाः
शुद्धिश्च सन्ति कतिधा च तदीयभेदाः ।
तत्साधनाय सुकरः क उपायवर्गो
निर्दिष्टमेतदखिलं हि तृतीयपादे ॥ २८ ॥

तद्धर्मसंस्कृतिसदर्हितकर्मशुद्धि-
जन्यं फलं चरममाकलितं हि मोक्षः ।
यः प्राणिनां जगतिविश्वजनीन लक्ष्यं
तद्वर्णनं विलसतीह चतुर्थपादे ॥ २९ ॥

काण्डं च वेदविहितं समुपासनायाः
सम्यग् विवेचयितुमङ्गिरसाऽऽत्मवेत्रा ।
यद्दर्शनं विरचितं समभूत् पुरा तत्
कालप्रभाववशगं सुविलुप्तिमापत् ॥ ३० ॥

तद्दर्शनस्य परिलुप्ततयैव कैश्चिद्
विद्वद्भिराप्तधिषणैरपि सन्नमस्यैः ।
वेदान्तदर्शमिदं निजयुक्तिवादै-
र्द्वैतावबोधकमभाषि विकर्षयद्भिः ॥ ३१ ॥

शुद्धाख्ययाभुवि विशिष्टसमाख्यया च
द्वैतादिनामभिरनेकमतं लपद्भिः ।
यः साम्प्रदायिक उदैरि विरोधवह्नि-
स्तद्दर्शनस्य परिलोप इहास्ति हेतुः ॥ ३२ ॥

तान् सम्प्रदायकलहाग्निनिपीड्यमानान्
लोकान् विलोक्य नितरां करुणार्द्रचेताः ।
भक्तिप्रकर्षपरिदर्शकमेष दैवी-
मीमांसनं स्वतपसा प्रकटीचकार ॥ ३३ ॥

शाण्डिल्यशेषकरुणाकर - नारदाद्यैः
सद्भक्तिबोधजनकं निजसूत्रजालम् ।
यद्यारचय्य भुवि भक्तिमतां जनाना-
मात्यन्तिकः सुविहितोऽस्ति महोपकारः ॥ ३४ ॥

किन्त्वस्य सर्वहितसाधन - तत्परस्य
संसारसेतु - भगवत्समुपासनस्य ।
पाथोनिधेरिव महागहनस्य साङ्गो-
पाङ्गं विवेचनमभून्न तदीयसूत्रैः ॥ ३५ ॥

औपासनं च तमभाव्रमिमं निभाल्य
लोकोपकारनिरतो हि महर्षिवर्य्यः ।
योगात्मकेन तपसाऽङ्गिरसो मुनीन्द्रात्
सद्भक्तिदर्शनमिदं शुभदं ह्यवाप ॥ ३६ ॥

वेदप्रभृत्यखिलशास्त्रसमुच्चयस्य
ब्रह्मादयश्चमुनयश्च महर्षयश्च ।
स्मर्त्तार एव हि भवन्ति न केऽपि तस्य
कर्त्तार इत्यभिमतं श्रुतिवित्प्रसिद्धम् ॥ ३७ ॥

नित्यप्रतिभ्रमणशीलकरालकाल-
चक्रभ्रमैर्वशमुपेत्य तिरोहितानि ।
ज्ञानानि तानि सकलानि पुनर्मुनीन्द्रै-
राविष्कृतानि जनयन्ति हितं जनानाम् ॥ ३८ ॥

मीमांसनं तदिदमप्यनुकूललोक-
प्रोद्यत्समष्टिशुभदिष्टचयैर्महर्षिः ।
संश्रूयमाणमिदमङ्गिरसो मुनीन्द्रा-
दाविश्चकार न चकार निजप्रयत्नात् ॥ ३९ ॥

श्रीमद्विभो र्भगवतोऽखिलशक्तिकेन्द्र-
सर्वान्तरज्ञकरुणा-वरुणालयस्य ।
सान्निध्यसन्धिसदुपायविशेष एव
भक्तिर्मताऽथ कतिभिश्चिदुपास्तिरुक्ता ॥ ४० ॥

भक्तिं विना भगवतो न हि कोऽपिविज्ञस-
सत्यस्वरूपमनघं प्रतिपत्तुमीशः
एतद् विचिन्त्य जनमानसमुद्दिधीर्षु-
र्भक्तिस्वरूपमिह सम्यगुवाच योगी ॥ ४१ ॥

साधारणस्य मनुजस्य च बोधहेतो-
स्तद्दर्शनस्य वरभाष्यमरीरचच्च ।
येनाभवत् परमसुन्दरकान्तियुक्ते
चामीकरे हृदयहारिसुगन्ध-योगः ॥ ४२ ॥

विज्ञानकाण्डजगदर्हित - कर्मकाण्ड-
मध्यस्थितं ह्युभयमङ्गलसाधकं यत् ।
तद्देहलीस्थमणिवद् रसनाग्रवर्ति
नाम्नेव दर्शनमिदं विदुषां विभाति ॥ ४३ ॥

सृष्टिस्थितिप्रलयरूपमदो निदान-
मुक्तिस्वरूपमदसीय उपायवर्गः ।
भक्ते र्निदर्शनमिदं शुभदर्शनं तद्
व्यूहैश्चतुर्भिरमलैः सुविलालसीति ॥ ४४ ॥

रूपत्रये भगवतः किमुपास्तिभेदो
भक्तिश्च का कति च सन्ति तदीयभेदाः ।
किं किं मतं प्रकटितं मुनिभिश्च तत्र
संलभ्यते भुवि तथा च कथं विमुक्तिः ॥ ४५ ॥

देवर्षिपितृनिवहेन च कीदृगास्ते
सम्बन्धसत्त्वमखिलैर्भुवनैर्विचित्रैः ।
के के कदा कथमिवावतरन्ति लोके
इत्याद्यनेक विषया इह सन्निदिष्टा ॥ ४६ ॥

एतत्स्वधीत्य सुधियो विमलान्तरङ्गाः
संन्यस्य कर्मफलमात्मपतौ परेशे ।
ब्रह्मावबोधजनकस्य भवन्ति सद्यो
वेदान्तदर्शननिधेरधिकारवन्तः ॥ ४७ ॥

कर्मैव धर्मनिवहस्य च मूलमास्ते
ईशानुरक्तिरपि मूलमुपासनायाः ।
ज्ञानस्य मूलमपि चास्ति परावबोध
एतन्मतं निखिलशास्त्रनिकर्षभूतम् ॥ ४८ ॥

द्वारेण कर्मनिवहस्य च चित्तशुद्धौ
सत्यां सुभक्तिरमला परिलभ्यते वै ।
तत्रापि यैः सफलताऽधिगता वरेण्या
तैर्ब्रह्मणोऽधिगतमस्ति हि सत्स्वरूपम् ॥ ४९ ॥

तत्कर्मदर्शनमवाप्य विलुप्तपूर्वं
भक्तेश्च दर्शनमिदं प्रकटय्य भूयः ।
विज्ञानसौधतलमर्हितमारुरुक्षोः
शं साधितं बहुमुनीन्द्रनुतेन तेन ॥ ५० ॥

वेदप्रगीतविभवेन महर्षिणा वै
यद् दर्शनं निगदितं कपिलेन सांख्यम् ।
कैश्चित् प्रचारितमनीश्वरमात्मभाष्यैः
प्रादर्शि तस्य मुनिना किल सेश्वरत्वम् ॥ ५१ ॥

आसीद् विलुप्तमिह कालवशेन कर्म-
मीमांसनं विरचितं च महर्षिणा यत् ।
दत्तेन चात्रितनयेन समुद्दधार
तच्चापि योगनिरतः सतपोमहिम्ना ॥ ५२ ॥

न्यायश्च गौतममुनीन्द्रकृतोऽस्ति चाद्यो
वैशेषिकश्च कणभक्षकृतो द्वितीयः ।
योगः पतञ्जलिमहर्षिकृतस्तृतीयः
सांख्योऽप्यसौ कपिललब्धजनूश्चतुर्थः ॥ ५३ ॥

मीमांसनं निखिलकर्मविवेक्तृभार-
व्याजेन यद् विरचितं किल पञ्चमं तत् ।
मीमांसिताः श्रुतिमखा निखिलाश्च यत्र
तज्जैमिनीयमपि तस्य परार्द्धरूपम् ॥ ५४ ॥

औपासनं च मुनिनाऽङ्गिरसा प्रणीत-
भक्त्ये निदर्शनमिदं च भुवीह षष्ठम् ।
वेदान्तदर्शनमदोऽपि च सप्तमं तत्
सोपानवल्लसति दर्शन सप्तकं हि ॥ ५५ ॥

सोपानपंक्तिमवलम्ब्य यथा प्रकृष्टं
प्रासादपृष्ठमधिरोहति सर्वलोकः ।
तद्वच्च दर्शनततिं समधीत्य सम्यग्
विज्ञः क्रमेण परिबुध्यत आत्मतत्त्वम् ॥ ५६ ॥

विद्यानिषेवितमनेकसुबोधदीप्तं
सोपानसप्तकमिदं सुधियोऽधिरुह्य ।
विज्ञानराज्यमखिलं ह्यधिगत्य नूनं
सम्प्राप्नुवन्ति हि जनुःफलमञ्जसैव ॥ ५७ ॥

चार्वाकसौगतमतानि जिनार्हतानि
वैज्ञानिकैश्च सकलैः परिचिन्तितानि ।
अन्यानि चात्र भुवि यानि च दर्शनानि
निम्नाधिकारिहितसाधनतत्पराणि ॥ ५८ ॥

उत्पद्यमानवपुषश्च जनिष्यमाणाः
विज्ञानराशय इहाखिलभूतले ये ।
आदर्शदर्शनसमाह्वयके निबन्धे
वेदोद्भवा इति मतं मुनिना न्यदर्शि ॥ ५९ ॥

यान्यास्तिकानि च बहून्यपि नास्तिकानि
दृष्टानि सन्ति भुवि संविदपश्चिमानि ।
सर्वाणि तानि सकलानि च दर्शनानि
अन्योन्यखण्डनपराणि विलोकितानि ॥ ६० ॥

आकल्पमद्यसमयावधि कस्तदन्यो
धन्यो भुवीह मुनिपुङ्गव आविरास ।
यः सर्वदर्शनसमन्वयमाचरिष्णु
र्ज्ञानिप्रयत्नवरमीदृशमन्वतिष्ठत् ॥ ६१ ॥

शान्तिप्रदा कुटिचरी च बहूदकीच
हंसाभिधा परमहंसपदेति शास्त्रे ।
श्रेण्यो लसन्ति विमलाशयदाश्चतस्रः
संन्यासिनां विरतिमार्गजुषां प्रसिद्धाः ॥ ६२ ॥

शास्त्राब्धिमन्थनपटुर्मुनिपुङ्गवोऽसौ
तत्पद्धतीः सुविरचय्य पुनर्जगत्याम् ।
अन्त्याश्रमेऽभिलषतां स्थितिमात्मनीनां
प्राचारयद् विमलबोधवतां हिताय ॥ ६३ ॥

तत्तत्पुराणशुभदाध्ययनप्रवृत्त-
विद्वत्समाजहृदयाश्रितसंशयानाम् ।
उच्छेदनाय रचितो मुनिसिंहकेन
ध्वान्तापहारि सदृशः सुनिबन्ध एकः ॥ ६४ ॥

योगी पतञ्जलिमुनिर्नितरां गरीय-
श्चेतो निरोधविनियोगविधौ पटीयः ।
यद् योगदर्शनमिदोऽरचयच्च तत्र
कृत्वाऽपि भाष्यवरमेष न सन्तुतोष ॥ ६५ ॥

मन्त्रो हठोऽपि च लयस्त्वथ राजसंज्ञो
योगा इमे सकलसाधककल्पवृक्षाः ।
तत्संहिताश्च विविधागमलब्धरूपा
आविश्चकार स मुनिः स्वसमाधिशक्त्या ॥ ६६ ॥

मन्त्रेण चापि हि हठेन लयेन चैव
राजाभिधेन च चतुर्भिरुपायवर्गैः ।
यद्युक्तिमेति परमात्मनि नित्यरूपे
जीवः स एव भुवनेगदितोऽस्ति योगः ॥ ६७ ॥

सृष्टि प्रपञ्च इह सर्वविधोऽपि नाम-
रूपात्मकश्च परिदृश्यत इत्यवेत्य ।
यन्नामरूपमवलम्ब्य बुधाग्रगण्यः
संयुज्यते भगवता स हि मन्त्रयोगः ॥ ६८ ॥

यस्यां पतन्ति मनुजा बत पिच्छिलायां
दुःखानि हन्त बहुधाऽनुभवन्ति चापि ।
तामेव भूमिमवलम्ब्य पुनः प्रयत्ना-
दुत्थानकर्मणि सदा सफला भवन्ति ॥ ६९ ॥

मायामयं समधिगत्य समस्तनाम-
रूपात्मकं जगदिदं निपतन्ति जीवाः ।
उत्थानहेतुरपि संभविता तदेव
कस्यापि नैव हि मनागपि संशयोऽत्र ॥ ७० ॥

अन्तः कृतिर्जनिमतो भुवनेषु पञ्च-
तत्त्वात्मिका भवति तत्र हि यत् प्रधानम् ।
तत्त्वं च तस्य परमोऽधिपतिर्य आस्ते
संज्ञायते स हि निजः समुपास्यदेवः ॥ ७१ ॥

भूमेः शिवोऽधिपतिरम्बुपतिर्गणेशः
शैलाधिराजतनया ह्यधिपात्रवह्नेः ।
सूर्योमतोऽस्ति पवमानपतिः खविष्णु-
र्वेदेषु च स्मृतिषु चेति मतं निदिष्टम् ॥ ७२ ॥

देवेषु पञ्चसु च यो हि निजेष्टदेव-
स्तन्नाममन्त्रजपनेन तदीयमूर्तेः ।
ध्यानेन साधनरताः पुरुषाः प्रसह्य
गच्छन्त्यनामयपदं स हि मन्त्रयोगः ॥ ७३ ॥

अङ्गैश्च षोडशभिरेष हि संविभक्तो
ध्येयोऽत्र मन्त्रजपपूर्वकमिष्टदेवः ।
सिद्धिं गतस्य च मुनेरिह चित्तरोधाद्
भावो महादिपदभृद्भविता समाधिः ॥ ७४ ॥

चित्तस्य वृत्तिमखिलामपि संनिरुध्य
ज्योतिः स्वरूपममलं सुविचिन्त्य यत्नात् ।
साक्षात्क्रिया भगवतोऽस्ति हठाख्ययोगो
ह्यङ्गैश्च सप्तभिरयं सुविभक्त आस्ते ॥ ७५ ॥

प्राणो मनोऽप्यथ च वीर्यमितित्रयं हि
वस्त्वन्तरं निगदितं न तदेकमेव ।
एकस्य निग्रहविधौ द्वयमप्यवश्यं
वश्यत्वमेति तदुदैरि हठाख्ययोगे ॥ ७६ ॥

संलीयतेऽपि च मनस्त्रिपुटीविनाशाद्
योगात्मबोधगुरुदर्शितसम्प्रयोगात् ।
यः साधकस्य समुदेति समाधिरिष्टो
नाम्ना प्रसिद्ध इह सोऽस्ति महावबोधः ॥ ७७ ॥

एतत्प्रशस्तहठयोगसुसाधनेन
मुद्रासनादिभिरनेकविधैरुपायैः ।
अत्यन्तभीतिजनका अखिलामयाश्च
संयान्ति तेऽप्युपशमं यदि संत्यसाध्याः ॥७८॥

तद्ब्रह्मतश्च किल तस्य निजप्रकृत्या
ब्रह्माण्डमेतदपि पिण्डमनेकरूपम् ।
उत्पद्यमानमत एव सुधीप्रकाण्डै-
स्तत्साम्यमाकलितमस्ति न तत्परोक्षाम् ॥ ७९ ॥

पित्रर्षिदेवविविधग्रहराशिसंघा
ब्रह्माण्डकेऽत्र विलसन्ति तथैव पिण्डे ।
ज्ञाते गुरोः सदुपदेशत एव पिण्डे
विज्ञायते हि निखिलं परमात्मनोऽण्डम् ॥ ८० ॥

योगप्रदर्शितसुकौशलपूर्णयुक्त्या
तत्त्वार्थविद्गुरुकृपामधिगत्य पूर्णाम् ।
शक्तेः परेऽत्र पुरुषे विलयक्रियैव
जीवात्मनो निगदितोऽस्ति लयाख्ययोगः ॥ ८१ ॥

आधारचक्रसहिता प्रकृतिश्च यस्या
नामान्तरं हि कुलकुण्डलिनीति योगे ।
तां संविबोध्य पुरुषे विलयस्तु रन्ध्रे
ब्राह्मे स्थिते मुनिवरैर्लययोग उक्तः ॥ ८२ ॥

यावद् गतास्ति कुलकुण्डलिनी प्रसुप्तिं
तावज्जनस्य भवतीह बहिः प्रवृत्तिः ।
तज्जागरेण च सहस्रदले स्थितं ना
षट्चक्रभेदनरतो निजरूपमेति ॥ ८३ ॥

योगप्रयोगकुशलैः परमर्षिवर्य्यै-
रङ्गानि तस्य नवधा प्रतिपादितानि ।
योगीन्द्रवर्यचरणाम्बुजसेवनेन
लभ्यानि सन्ति लययोगसहायकानि ॥ ८४ ॥

ध्यानाच्च शक्तिपुरुषात्मकबिन्दुरूपाद्
रम्यं महालयसमाधिमुपैति योगी ।
जाते लये च पुरुषे प्रकृतेर्निजाया
जीवत्वमाशु विजहाति शिवत्वमेति ॥ ८५ ॥

ब्रह्मैक्यसाधनफलः स्वसुबुद्धिसाध्यः
सत्याद्वितीयपरमात्मपरावबोधः ।
योगेषु राजपदवीमधिरुह्य लोके
स्वात्मप्रसादजनकः स हि राजयोगः ॥ ८६ ॥

वेदान्तशास्त्रमहितस्य च निर्गुणस्य
तत्त्वस्य सर्वहितदस्य परात्परस्य ।
साक्षात्कृतौ तु परमोऽस्ति सहायको यः
सोऽस्ति प्रकृष्टविभवः किल राजयोगः ॥ ८७ ॥

बुद्ध्या विवेकपरयैव हि साध्यते यो
ब्रह्मात्मना स्थितिरिहास्ति सदैव येन ।
ब्रह्मार्पितेन हृदयेन च निर्विकल्पो
यत्राप्यते सकलसिद्धिनुतः समाधिः ॥ ८८ ॥

जीवन् हि मुक्तिमधिगच्छति राजयोगा-
भ्यासेन योगिजनपूजितपादपद्मः ।
अप्राप्यमस्ति नहि किञ्चिदमुष्य साधोः
सर्वं करामलकवत् प्रतिभाति तस्य ॥ ८९ ॥

अङ्गानि षोडश सुसाध्य हितस्य बुद्ध्या
स्वं व्यष्टिजीवनमिदं च समष्टितत्त्वे ।
ब्रह्मात्मकेऽद्वयवरे प्रविलाय यत्नात्
संयाति सत्पदमसौ कृतकृत्यतायाः ॥ ९० ॥

एवं विधाः स हि चतुर्विधयोगमार्ग-
पान्थादृताः सरणयः सुखदाश्चतस्रः ।
योगीन्द्रवन्द्यचरणो भगवान् महर्षि-
स्तत्संहिताश्च महिता रचयाञ्चकार ॥ ९१ ॥

वेदादृतं सगुणनिर्गुणरूपतो वै
भेदद्वयं निगदितं समुपासनायाः ।
अद्वैतसर्वमयनिर्गुणतत्त्वचिन्ता-
निर्मुक्तबन्धनमहापुरुषैकसाध्या ॥ ९२ ॥

एकस्य चैव सगुणस्य विभोस्तु पञ्च-
तत्त्वाधिपात्मकतया परिकल्पितानि ।
पञ्चैव सर्वविधशास्त्रनिरूपितानि
रूपाणि सन्त्यखिलसाधकसिद्धिदानि ॥ ९३ ॥

तेष्वेषु विष्णुशिवशक्तिगणेशसूर्य-
रूपेषु चैकमवलम्ब्य विमुक्तिमार्गे ।
अग्रे सरत्यसुभृदत्र ततश्चहेतोः
पञ्चैव संनिगदिता भुवि सम्प्रदायाः ॥ ९४ ॥

स्वीयेष्टदेवपरिचिन्तनभक्तिसिद्ध्यै
व्यासेन या विरचिता भुवि पञ्चगीताः ।
कालेन ताः कवलिता मुनिसिंह एष
आविश्चकार पुनरत्र तपोमहिम्ना ॥ ९५ ॥

संन्यासिनां हितकरी च गुरोर्महत्त्व-
प्रद्योतिका च भुवनेऽत्र विलुप्तपूर्वा ।
गीताद्वयी पुनरनेन तपःप्रकर्षात्
आविष्कृता मुनिवरेण समाधिभाजा ॥ ९६ ॥

तद्भारतीयमितिवृत्तकमारचय्य
ह्यैतिह्यविश्रुतविदां श्रुतिशास्त्रनिष्ठः ।
चन्द्राग्निसूर्यकिरणैरपि यो न नष्टो-
ऽपास्तः समूलममुना हृदयान्धकारः ॥ ९७ ॥

हिन्दीविदां सकलशास्त्रविशिष्टबोध-
सम्प्राप्तये द्विशततोऽप्यधिकान् निबन्धान् ।
ग्रन्थानसावमितबोधबलेन धर्म-
कल्पद्रुमानिव बहून् रचयाञ्चकार ॥ ९८ ॥

वेदस्वरूपविविधोपनिषत्सु टीका-
भाष्यादिना ह्युपकृता च सरस्वतीयम् ।
अध्यात्मबोधपुलकांकितविग्रहं त-
माकल्पमर्चति समेति च सत्प्रसादम् ॥ ९९ ॥

अनेके सद्ग्रन्था मुनिवरवरेण्येन रचिता
विलुप्ताश्चानेके जगति च समाविष्कृतिमिताः ।
न निर्दिष्टं नाम क्वचिदपिनिजं तेन सुधिया
यतो नाम्नोरूपादिह किलसआसीत्परतरः ॥ १०० ॥

इति श्रीकविवर्यविन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रि विरचिते
श्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्य एकविंशः सर्गः ।



अथ द्वाविंशः सर्गः

नियतेर्जडचेतनात्मकं
वशगं सर्वमनन्तकं जगत् ।
न हि तां परिभूय संस्थितिः
प्रभवेद् विश्वसृजोऽपि च क्वचित् ॥ १ ॥

नियतेर्वशगैव दृश्यते
निखिला सृष्टिलयस्थितिक्रिया ।
प्रकृतिश्च तया प्रणोदिता
परितोऽहर्निशमेव नृत्यति ॥ २ ॥

इह तामनुसृत्य सर्वथा-
ऽपरिहार्यां मुनयो महर्षयः ।
सकला अपि देवदानवाः
स्वविधेयानि विधातुमीशते ॥ ३ ॥

नियमान् नियतिप्रकल्पितान्
अनुसृत्य प्रभुरामकृष्णयोः ।
परमेश्वररूपधारिणो-
रपिलोकान्तरितौ हि विग्रहौ ॥ ४ ॥

उभयोर्नयनाभिरामयो-
र्निजधाम्नो गमनस्य वार्त्तया ।
कुलिशस्य च हृद् विदीर्यते
परिरोदित्यपि यज्जडं जगत् ॥ ५ ॥

धृतधर्मकलेवरो महान्
दृढचित्तोऽपि युधिष्ठिरो नृपः ।
परमप्रियनन्दनन्दन-
प्रवियोगं विनिशम्य मूर्च्छितः ॥ ६ ॥

अभिमन्युसुतं परीक्षितं
क्षितिसाम्राज्यपदेऽभिषिच्य सः ।
सहजैरपि कृष्णया समं
विससर्जात्मतनुं हिमालये ॥ ७ ॥

य इहैति स याति च ध्रुवं
जनिभृन्नाशमुपैति निश्चितम् ।
न हि योगिवरोऽपि कोऽपि वा
नियमं तं परिहर्त्तुमीश्वरः ॥ ८ ॥

नियमस्य तु तद्बलीयसो
ह्यपवादो न महर्षिमण्डलः ।
अवतारवरो न चेदभूद्
भवतादेष मुनीश्वरः कथम् ॥ ९ ॥

मुनिवृन्दनुतस्य तस्य वै
कृतकृत्यस्य च राजयोगिनः ।
परिपूर्णकलेन विष्णुना
बहुशः साम्यमुपैति जीवनम् ॥ १० ॥

भुवि मातुरजायताऽऽत्मनो
ह्ययमप्यष्टमगर्भतो मुनिः ।
शुभभाद्रपदेऽसिते दले
वसुतिथ्यां च निशीथ उद्गते ॥ ११ ॥

स हि धर्ममिमं सनातनं
भुवने रक्षितुमेव चागमत् ।
अमुना परमर्षिणा समे
सुपरास्ताः खलु धर्मविद्रुहः ॥ १२ ॥

मुनिराट् स पराशरात्मजः
सुयशाः शान्तनवो युधिष्ठिरः ।
त्रय एव यथार्थतो विदु-
र्भगवन्तं वसुदेवनन्दनम् ॥ १३ ॥

इममप्यनघं मुनीश्वरं
ह्यभवन् द्वावथवा त्रयोऽपि वा ।
परिवोद्धुमलं विपश्चितः
परिचर्यानिरताश्च सर्वदा ॥ १४ ॥

स हि पूज्यपदाम्बुजो मुनि-
र्निजमारभ्य च बाल्यजीवनम् ।
मरणान्तिमवासरावधि
सुसिषेवे खलु धर्ममादरात् ॥ १५ ॥

ऋषिवृन्दतिरोहिते क्षितौ
कलिकाले च समागते सति ।
कृतिमादिमशंकरात् परं
नृजनूः को विदधे बतेदृशीम् ॥ १६ ॥

निजमन्तिमकालमागतं
परिभाव्येह स योगचक्षुषा ।
अविमुक्तपुराद् बहिर्गमं
परितत्याज मुनिः स्वदिष्टदृक् ॥ १७ ॥

ध्रुवमेव हि तस्य जीवतः
परिमुक्तस्य च राजयोगिनः ।
करगाऽऽमलकीव निर्वृतिः
परमब्रह्मविदोऽस्ति सर्वदा ॥ १८ ॥

परिपूतमपूतमेव वा
सकलं नन्दनकाननायते ।
श्रुतिवागिव विश्वभाषितं
जगती कल्पलतायते तथा ॥ १९ ॥

निखिलं जलमेव देवता-
सरिदुत्थं विमलं प्रतीयते ।
जलदाश्च सुधाप्रवर्षिणः
परमे ब्रह्मणि दृश्यतां गते ॥ २० ॥

न हि तस्य विमुक्तिपत्तने
मरणात् किञ्चिदपि प्रयोजनम् ।
ददते हि परस्य गौरवं
विमला आत्मदृशस्तपस्विनः ॥ २१ ॥

गुरवः सुसमाचरन्ति यत्
लघवश्चापि तदेव कुर्वते ।
अधियन्ति च यत्प्रमाणताम्
इतरे चापि तथैव मन्वते ॥ २२ ॥

अतएव हि योगिनाऽमुना
शिवतः साम्यमुपेयुषा सदा ।
श्रुतिसम्मतगौरवादृतं
किल काशीमरणं विनिश्चितम् ॥ २३ ॥

अविमुक्तपुरेऽसुधारिणां
स्मृतिभाजामिह पापिनामपि ।
अखिला निगमास्तथाऽऽगमाः
परिनिर्वाणमहो प्रचक्षते ॥ २४ ॥

हरसेवितकाशिका पुरं
मतमाध्यात्मिकमाधिदैविकम् ।
अधिभूतमिति त्रिधा श्रुतौ
वरणासीति सरिद्द्वयान्तरे ॥ २५ ॥

निखिलेन्द्रियदोषसन्ततिं
वरणा वारयते निरन्तरम् ।
मनसा च धियाप्यनुष्ठितां
भुवने याऽस्यति सा ह्यसी स्मृता ॥ २६ ॥

उभयोः सरितोरिह भ्रुवो-
र्ननु मध्ये सुनिवास उच्यते ।
विरहन्ति च तत्र ये ह्यसून्
विमलाऽऽध्यात्मिककाशिमध्यगुः ॥ २७ ॥

शिवदं शिवलोकमव्ययं
मुनिषेव्य प्रथमानमादरात् ।
जहति श्वसनं निजं च ये-
ऽधिगता तैरधिदैवकाशिका ॥ २८ ॥

अधिभूतमिदं च काशिका-
पुरमापामरमस्ति विश्रुतम् ।
अपि तत्र निजं वपुस्त्यजन्
अधियात्येव विमुक्तिमात्मनः ॥ २९ ॥

भुवि चात्र जले स्थलेऽपिवा
नभसि प्राणविमुक्तिमाचरन् ।
विनिशम्य मृडोक्ततारकं
लभते मुक्तिमवश्यमेव सः ॥ ३० ॥

मरणश्रमवारिवारणैः
स्वदुकूलाश्वलचालनैस्तथा ।
शिवतारकमन्त्रदीक्षणे-
ऽम्बिकया यत्र निषेव्यते जनः ॥ ३१ ॥

करिचर्मकपालपन्नगान्
शशिखण्डं च दधन्महेश्वरः ।
स्ववपुस्त्यजताऽविमुक्तके
मृतिमूर्च्छासु जनेन दृश्यते ॥ ३२ ॥

ध्रुवमूषरमस्ति कर्मणां
नगरीयं किल चान्द्रशेखरी ।
यदि मृत्युमवाप्नुयाज्जनो
दयया भूतपतेः कपालिनः ॥ ३३ ॥

त्यजतोऽसुभृतो निजानसून्
सकलं पापमथापि पुण्यकम् ।
भवतीह सुभृष्टबीजवत्
पुनरेतन्न फलाय कल्पते ॥ ३४ ॥

निखिलं निजपूर्वजन्मनां
सुकृतं दुष्कृतमस्ति कर्म यत् ।
विविधानि वपूंषि धारयन्
स्वदते स्वप्नवदत्र संस्थितः ॥ ३५ ॥

न विचित्रमिदं नु मन्यतां
　　न च सन्देहजनिर्भवत्विह ।
सुविधातुमलं न किं जग-
　　त्यनुकम्पा किल पारमेश्वरी ॥ ३६ ॥

सुरवन्द्यशिवस्वमस्तके
　　धृतया जह्नुमुनेश्च कन्यया ।
सततं सुनिषेविते॒ऽमले
　　ननु कुत्रापि च काशिकापुरे ॥ ३७ ॥

श्वसनं त्यजतां जनुष्मता-
　　मपरावर्त्तिविमुक्तिसिद्धये ।
श्रुतयः स्मृतयः शिवोक्तयः
　　प्रथिताः सुप्रचकाशते प्रभाः ॥ ३८ ॥

नगराणि वहूनि मुक्तये
　　प्रथितानीति मतं विलोक्यते ।
परमेषु मृतेः फलं ध्रुवं
　　किल काशीमरणं हि केवलम् ॥ ३९ ॥

महसा च यथोग्रदीधितेः
　　प्रसृता ध्वान्ततर्तिविनाश्यते ।
अपसार्यत एव विभ्रमो
　　म्रियमाणस्य तथाऽत्र शम्भुना ॥ ४० ॥

परिशुष्कमथेतरत्तृणं
　　कुरुते भस्म यथाग्निरुच्छिखः ।
शिवमन्त्रबलेन दह्यते
　　निखिलः प्राणभृता कृतेश्चयः ॥ ४१ ॥

महतामिह पापिनां स्मृता
विविधा भैरवयातना अपि ।
प्रभवन्ति न ता नृणां मृतौ
किल केदारभुवीति निर्णयः ॥ ४२ ॥

प्रकृतिप्रभवा हविर्भुजो
नियता शक्तिरियं हि दाहिका ।
सुविमोचनशक्तिरद्भुता
नगरस्यास्ति पिनाकधारिणः ॥ ४३ ॥

पतिता जलबिन्दवो यथा
शुचिशुक्तौ वरवारिवर्षिणः ।
विभवन्ति तथाऽत्र संस्थिता
भुवि मुक्ता अतिनिर्मला ध्रुवम् ॥ ४४ ॥

मृडधामनि चात्र निश्चितं
न हि सूच्यग्रसमं स्थलं क्वचित् ।
स्ववपुस्त्यजता जन्तुष्मता
निजमुक्तिर्न च यत्र लभ्यते ॥ ४५ ॥

श्वपचोऽपि च यत्र वज्रिणं
भुवि चिन्तामणिमश्मखण्डकः ।
अमृतं च जलं विनिन्दति
गुरुतां तस्य वचःपरा ध्रुवम् ॥ ४६ ॥

सकलं त्ववबुध्य मेधया
श्रुतिविज्ञानमिदं महर्षिणा ।
हरसाक्षिकमुक्तिधामनि-
त्विह विन्यास इवार्पितं वपुः ॥ ४७ ॥

ऋषिरेष ततो दिनात् परं
निजसंसेवित - धर्मसद्मनि ।
सुविविक्ततमेऽत्र शारदा-
ऽऽह्वयके विश्रुतपुस्तकालये ॥ ४८ ॥

निवसन् रहसि स्थितः सदा
परमे ब्रह्मणि तन्मयो भवन् ।
विषवद् विषयान् परित्यजन्
परितस्थौ सततं समाधिभृत् ॥ ४९ ॥

निजजीवनलक्ष्यहेतुके
रुचिरे शास्त्रविकासकर्मणि ।
निरतो बहुभिः सुधीश्वरै-
रयमासीत् परितो निषेवितः ॥ ५० ॥

श्रुति-भाष्यमलौकिकाद्भुतं
विबुधैर्लेखयते स्म कैश्चन ।
अपरैश्च स योगसंहिताः
कतिभिर्दर्शनधर्मसंगतिम् ॥ ५१ ॥

विधिवित्स निजायुषोऽन्तिमान्
दशचाब्दान् विधिनाऽमुना मुनिः ।
बहुशास्त्रविकासनात्मकैः
पुरुषार्थैर्नयते स्म सर्वदा ॥ ५२ ॥

गुरुदर्शनकामनाश्रितम्
अतिदूराच्च समागतं तथा ।
किमपि प्रतिबोध्य चेङ्गितै-
र्जनसम्मर्दमयं ह्युपेक्षते ॥ ५३ ॥

विविधैः श्रुतिशास्त्रचिन्तनै-
रथवा शुद्धसमाधिसेवनैः ।
समयोऽस्य मुनेर्निरन्तरं
व्यतियातिस्म महातपस्विनः ॥ ५४ ॥

कृतकर्मकलापसंयमात्
अमुनाऽज्ञायत मृत्युवासरः ।
चत मृत्युकरः स चामयो-
ऽपि च तस्यास्त्यपरोक्ष एव हि ॥ ५५ ॥

स हि मूत्रनिरोधजामयः
सहसा प्रादुरभूत् किलैकदा ।
शुचिसात्त्विकभेषजे न तं
शमयामास मुनीश्वरः स्वयम् ॥ ५६ ॥

बहुवारमिमं यतीश्वरं
स किल व्याधिरपीड़यत् परम् ।
निजभक्तचिकित्सकैर्द्रुतं
सुखशान्तिं गमितः सदौषधैः ॥ ५७ ॥

प्रबलो निजमर्मपीडकः
स च रोगः पुनरेकदोत्थितः ।
निजभाग्यविशारदो मुनि-
स्तमवैदात्मशरीरनाशकम् ॥ ५८ ॥

बहवोऽपि च सद्भिषग्वराः
प्रथिता द्राक्तरशल्यकोविदाः ।
मुनिभक्तजनैः प्रयत्नतो
द्रुतमानायिषुरस्य शान्तये ॥ ५९ ॥

सकलैः समुपागतैश्च तै-
र्निरणाय्यस्य तु सूचिभेदनम् ।
अपवित्रपदार्थसंक्रमं
निजदेहे स हि नान्वमन्यत ॥ ६० ॥

समुपस्थितशल्यवित्तमै-
र्भणितं शस्त्रचिकित्सयैव सः ।
परमामयपीड़ितो यति-
र्ध्रुवनैरुज्यमवाप्स्यति द्रुतम् ॥ ६१ ॥

चरणाश्रितभक्तमण्डलै-
र्बहुशो बोधित एष योगिराट् ।
निजमन्तिमकालमागतं
न्यवदद् भक्तजनाननेकधा ॥ ६२ ॥

गुरुजीवनहेतवेऽखिलै-
र्मुनिवाणी न च शुश्रुवे जनैः ।
प्रणयादपि भक्तितोऽथवा
भुवने सन्ति समेऽन्धबुद्धयः ॥ ६३ ॥

सकलैर्विवशीकृतो यति-
र्भवितव्यस्य न कोऽपि रोधकः ।
इति चेतसि चिन्तयन्नसौ
मतिमादात् किल शस्त्रचालने ॥ ६४ ॥

ऋषिवर्य्यमिमं स्वसंज्ञया
परिशून्यं सुविधातुमञ्जसा ।
किमपि प्रबलोग्रगन्धिकं
प्रददे घ्राणसमीपमादरात् ॥ ६५ ॥

प्रतिमुच्य तदौषधं क्षणा-
न्मुनिनाथः स समाक्षिपत् क्रुधा ।
निजगाद चिकित्सकानसौ
मम गात्रं विलिखन्तु निर्भयम् ॥ ६६ ॥

अचिरेण समाधिमाप्तवान्
मृतकल्पोऽस्य बभूव विग्रहः ।
न हि तस्य शरीर - कर्त्तने-
ऽणुमिताऽशान्त्यनुभूतिरुद्बभौ ॥ ६७ ॥

इह वै भुवनेऽसतां सतां
सुखदुःखे भवतः शरीरिणाम् ।
निजधैर्यविवेकतो बुधा
न च मुह्यन्त्यपरे तु दुःखिताः ॥ ६८ ॥

मन एव हि सौख्यदुःखयो-
र्भुवने कारणमस्ति देहिनाम् ।
ननु तस्य समाधिना लया-
दनुभूतिर्न तयोस्तु सम्भवा ॥ ६९ ॥

सहसैव समाधिसाधनाज्-
जडतां बिभ्रति तस्य विग्रहे ।
भिषजः किल कर्त्तनक्रिया-
समनुष्ठानपरा मुदाऽभवन् ॥ ७० ॥

घटिकाद्वयमङ्ग कर्त्तनं
कृतमेभिः परमेष धैर्यवान् ।
इह कास्ति कथा तु चीत्कृते-
र्नहि सीत्कारमपीषदाचरत् ॥ ७१ ॥

शितशल्यचिकित्सनक्रिया-
सुसमाप्तौ बुबुधे यतीश्वरः ।
परितः परिखिन्नमानसान्
निजभक्तान् निजगाद सान्त्वयन् ॥ ७२ ॥

विपदां तु समागमे धृति-
र्न च हेया भुवि सम्पदागमे ।
दम एतदुदीरितं बुधै-
र्नयशास्त्राब्धिरहस्यवित्तमैः ॥ ७३ ॥

न हि कश्चिदपीश्वरोऽभवत्
स्वशरीरस्य सदैव रक्षणे ।
गम आगम इत्युभौ सदा
परिदृष्टौ ननु संसृताविह ॥ ७४ ॥

जठरे वसतां च देहिना-
मिह निर्धारितमायुरस्ति यत् ।
परिभुज्य समेऽपि देहिनो
जहति ह्यात्मवपूंषि सत्वरम् ॥ ७५ ॥

क्रियमाणमदोऽस्ति नैव मे
निजदिष्टं परिभुक्तमेव हि ।
अपि सञ्चितकर्म भस्मसा-
दभवन्नाद्य ममस्थितिर्भवेत् ॥ ७६ ॥

सहि दत्तसमाह्वयो मुनि-
र्यं इहास्तेऽत्रितनूज ईश्वरः ।
मम मानसमास्थितः सदा
विविधज्ञानततिं समैरयत् ॥ ७७ ॥

बहुधाऽन्यमहर्षयोऽपि मे
हृदि चाविश्य वितन्वतेस्म यत् ।
तदिह प्रकटीकृतं मया
मम नास्त्यत्र महत्त्वमण्वपि ॥ ७८ ॥

हृदि यस्य च यस्य मे मुनेः
कृपया ज्ञानमभूत्प्रकाशितम् ।
भुवि तस्य च तस्य नामतो
ग्रथिताः सन्ति निबन्धराशयः ॥ ७९ ॥

अदसीयविकासने ध्रुवं
निजयत्नो न च मे मनागपि ।
अतएव मया न चार्पितं
निजनामेति बुधान् क्षमापये ॥ ८० ॥

त्यजताङ्ग विषण्णतां निजां
शृणुत ध्यानपराश्च मद्वचः ।
अहमद्य निशाक्षये ध्रुवं
परमे ब्रह्मणि यामि लीनताम् ॥ ८१ ॥

भयतोऽपि च लोभतोऽपिवा
भुविकामाय च जीविताय च ।
सकलार्थिहितः सनातनो
निजधर्मो न कदापि हीयताम् ॥ ८२ ॥

भवतावहिताः सुसंगता
निजवर्णाश्रमधर्मरक्षणे ।
जननीव च जन्मभूरियं
ह्यसुदानेन सदा निषेव्यताम् ॥ ८३ ॥

निखिलेऽपि च जीवमण्डले
ह्यनुकम्पा परमेश्वरे मतिः ।
पुरुषार्थचतुष्टये रति-
र्विरति द्वेषविरोधकर्मतः ॥ ८४ ॥

धिषणाऽपि च कायवाङ्मनः-
परिशुद्धाविह यस्य सम्भवेत् ।
स नरः स समाज एव वा
स च देशोऽप्यमृताय कल्पते ॥ ८५ ॥

शुचि - भारत - धर्म मण्डलं
परमप्राणसमं मतं मम ।
सकलं च तदीयमादरात्
शुभकृत्यं परिपाल्यतां सदा ॥ ८६ ॥

श्रुतिशास्त्रपुराणसेवनं
शुभदं कर्म मतं विपश्चिताम् ।
मम जीवनलक्ष्यमस्ति तद्
गणनीयं निजनित्यकर्मणि ॥ ८७ ॥

रुधिरक्षरणेन जीवनं
क्रमशो ह्रासमुपैति मेऽधुना ।
परिवक्तुमनीश्वरोऽप्यहं
हितदं किञ्चिदुदैरयं वचः ॥ ८८ ॥

विमलेऽम्बुनि भूतलेऽपिवा
मृतदेहो न निपातितोऽस्तु मे ।
शुचिमन्मणिकर्णिकास्थले
चितिमारोप्य विभूतिसाद् भवेत् ॥ ८९ ॥

उपदिश्य वचः सदीदृशं
मनुमेकाग्रमनाः स ओमिति ।
विधिवत्समुदीर्य रंहसा
परतत्त्वे समलीयताञ्जसा ॥ ९० ॥

शवमर्चितमस्य सत्कृतं
विबुधाः काशिनिवासिनः शुभम् ।
उपनीय पदं च वैष्णवं
सुचितां संविरचय्य चन्दनैः ॥ ९१ ॥

शुचिदेवसरिन्निमज्जितं
सुमनश्चन्दनचर्चितं तथा ।
परिभूषितमुत्तमाम्बरैः
श्रुतिमन्त्रैरदहंश्च सस्वरैः ॥ ९२ ॥

शवभस्मचयं विपश्चितो
निखिलाः साधुमतल्लिकास्तथा ।
मनुजा हरभक्ततल्लजाः
स्वशिरोभि र्मुदिता ववन्दिरे ॥ ९३ ॥

भुवि शाश्वतधर्मभानुमान्
अहहा हन्त ययाविहाऽस्ततम् ।
स सनातनसार्थसेवितः
सहसा कल्पतरुर्लयं गतः ॥ ९४ ॥

गुणगौरवशालिभूधरो
विबुधैराश्रित एष शीर्णवान् ।
परिशोषमितोऽद्य विश्रुतो
निखिलज्ञानपयोनिधिर्महान् ॥ ९५ ॥

विविधेषु च पुस्तकेषु या
भवदीयाः श्रुतिसारसम्पदः ।
अयि साधुवरेण्य ! ता ध्रुवं
सुपथं दर्शयितुं नरानलम् ॥ ९६ ॥

द्विनभोऽङ्कयुक्तवैक्रमे
रुचिरेऽब्दे वरमासि भाद्रके ।
जनुराप्य सचार्धरात्रिके
वसुतिथ्यामसिते दले तथा ॥ ९७ ॥

मकरेऽद्रिखखद्विसंयुते
यतिरब्दे च शुभोत्तरायणे ।
विषमेषुतिथौ दलेऽसिते
विजहे प्रातरयं निजं वपुः ॥ ९८ ॥

विशालं भालं ते
प्रसृमरजटाजूटसहितम् ।
स्वरूपं दृक्पेयं
पदरतसितश्मश्रुमहितम् ।
अहो दर्शं दर्शं
स्मृतिपथमगाद् यः स्मरहरो ।
भवेद्ध्येतृणाम्
ऋषिचरितमेतत् स शिवदः ॥ ९९ ॥

इति श्रीकविवर्य विन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिविरचिते
महर्षिश्रीज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये
द्वाविंशः सर्गः ॥



अथ त्रयोविंशः सर्गः

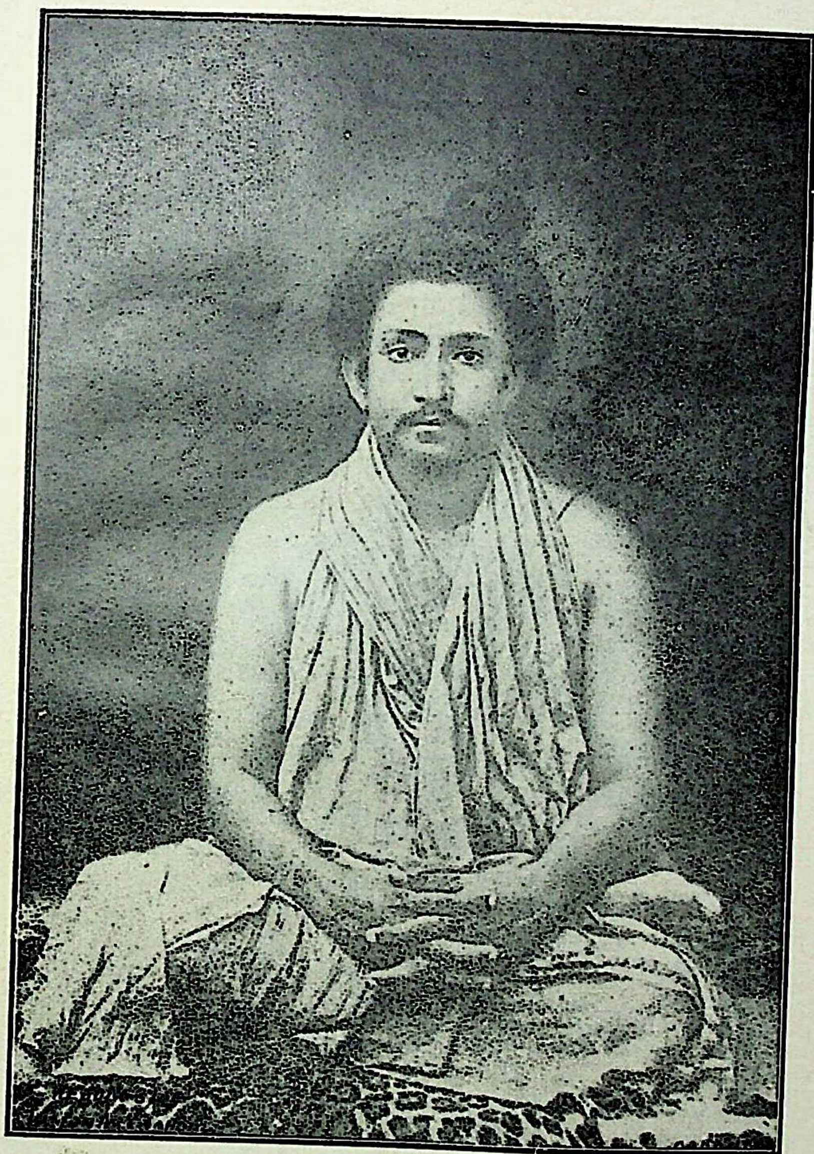
अस्य श्रीमद्गीतकीर्त्तेर्महर्षेः
प्रातः सायं वन्द्यपादाम्बुजस्य ।
जीवन्मुक्तस्याप्रमेयस्य बोधे
शक्या द्वेधा सन्ति भक्ता विभक्तुम् ॥ १ ॥

एके ते ये मन्त्रशिष्याः प्रगीता
विद्याशिष्याः सन्ति चान्ये तथैव ।
एतेषां ये सुप्रसिद्धा महान्त-
स्तेषां चर्चा सम्भवा नेतरेषाम् ॥ २ ॥

पृथ्वीपाला याश्च तद्धर्मपत्न्यः
संख्यातीतास्तस्य दीक्षां प्रपन्नाः ।
तेषां तासामर्थसाहाय्यमाप्य
योगीन्द्रोऽसौ धर्मकृत्यं वितेने ॥ ३ ॥

रम्यः काश्मीरश्च नेपालदेशः
सैलाना सा वीरचित्तौरभूमिः ।
दरभंगा सावलूवरः सा सिरोही
डूंगर् पूर्यन्नारसिंहं गढं च ॥ ४ ॥

अत्रत्या ये धार्मिका भूमिपाला-
स्तेषां पत्न्यश्चापि याः पुण्यशीलाः ।
दीक्षाकाले दत्तमेभिर्धनं यत्
पत्या न्यस्तं धर्मकार्ये यतीनाम् ॥ ५ ॥



भगवत्पूज्यपादाः श्रीमन्तः ११०८ महर्षिस्वामिज्ञानानन्दजी महाराजप्रभूणां
सुयोग्याः शिष्याः
श्री १०८ स्वामिनः दयानन्दजी महाराजाः

तेजोधामा श्रीदयानन्दनामा
योगानन्दः श्रीपरानन्दसंज्ञः ।
आनन्दोऽसौ यो विवेकेन युक्तो
विद्यानन्दश्चेति शिष्यास्तदीयाः ॥ ६ ॥

विद्वद्वन्द्यो नैष्ठिकब्रह्मचारी
श्रौतस्मार्त्तज्ञानवान् ब्रह्मवादी ।
श्रीमान् स्वामी यो दयानन्ददेवः
शेषोऽशक्तस्तद्गुणान् संप्रवक्तुम् ॥ ७ ॥

पौरस्त्यं यद् यच्च पाश्चात्त्यमृद्धं
सद्विज्ञानं तस्य यः पारदृश्वा ।
लेखन्यां वा यस्य जिह्वाप्रदेशे
वाग् वश्येवासीन्नरीनृत्यमाना ॥ ८ ॥

पूर्वं जातो यो यतिस्तत्सनामा
प्रायः सत्यं खण्डयामास शास्त्रम् ।
तत्पापं संहर्त्तुकामो जनिं स्वां
सम्प्राप्यासौ शिष्यतां तस्य चागात् ॥ ९ ॥

वंगीयोऽसौ हैन्दवीं वाचमेनां
प्रेम्णाश्रित्यारीरचद् ग्रन्थराशिम् ।
सत्यार्थानां सद्विवेकेन युक्तं
तेनात्रत्यास्तस्य सर्वेऽधमर्णाः ॥ १० ॥

संविद्राशेर्धर्मविज्ञानकस्य
विद्वत्सेव्या ये त्रयः सन्ति भागाः ।
अष्टौ खण्डा धर्मकल्पद्रुमस्य
लेख्यं नीता येन चायासवर्जम् ॥ ११ ॥

वेदैः शास्त्रैस्तत्पुराणैश्च तन्त्रै-
रन्यैः सर्वैर्वाङ्मयैर्वर्द्धितश्रीः ।
लोकानन्दः शाश्वतो योऽस्ति धर्म-
स्तत्सद्रूपं येषु निर्णीतमास्ते ॥ १२ ॥

हिन्दीभाषायां सहस्रं निबन्धा-
नालिख्यासौ पुस्तकानां शतानि ।
तस्याश्चक्रे यं गुरुश्चोपकारं
हिन्दीज्ञानां गोचरोऽसौ न वाचाम् ॥ १३ ॥

श्रीमद्गीतार्थस्य या चन्द्रिकाख्या
रम्या टीका साधुभिः सेवनीया ।
अन्तर्दृष्ट्या साधुनाऽलेख्यनेन
तत्त्वज्ञः स्याद् योऽप्यधीते नरस्ताम् ॥ १४ ॥

साहित्यं तच्छ्रेष्ठमभ्यर्हितं च
यच्चाधीत्य स्यात् समाजप्रकर्षः ।
एतद् दृष्ट्वाऽनुष्ठिते सद्विचारे
दुर्लभ्यो ना श्रीदयानन्दतुल्यः ॥ १५ ॥

भूयांसो ये पारिजातादयश्च
तेन ग्रन्था ग्रन्थिता देववाण्याम् ।
ज्ञानं विज्ञानं च तत्रस्थमृद्धं
दृष्ट्वाऽऽश्चर्यं बिभ्रति ज्ञानिनोऽपि ॥ १६ ॥

नैके ग्रन्था वंगभाषानिबद्धाः
श्रद्धाभाजा निर्मितास्तेन चित्राः ।
तैस्तैर्नूनं भूषिता वंगवाणी
स्वाशीर्भिस्तं योगिनं चार्चतीव ॥ १७ ॥

वाण्यामाङ्ल्यां "वर्ल्ड्स्इंटरनल् रिलीजन्"
नामा ग्रन्थस्तेन योऽस्ति प्रणीतः ।
पाश्चात्त्यायां हन्त कुत्रापि वाण्यां
नास्ते तुल्यस्तत्समानो निबन्धः ॥ १८ ॥

आलोच्यैतज्जर्मनीस्थैः सुधीभि
श्चत्वारिंशद् वर्षतश्चापि पूर्वम् ।
नैजीं भाषां संविधातुं समृद्धां
चक्रे तैस्तस्यानुवादप्रकाशः ॥ १९ ॥

हिन्दी माङ्लीं संस्कृतं वङ्गवाणी-
माश्रित्यासौ यादृशं ज्ञानराशिम् ।
आविश्चक्रे धीमतामग्रगण्यः
आर्यावर्त्ते तादृशं नैव कश्चित् ॥ २० ॥

चातुर्विध्ये सद्गिरां संबभूव
वक्तृत्वेऽस्यात्यद्भुता दिव्यशक्तिः ।
यच्च श्रोतुं लक्षशः शिक्षितानां
पुंसां संमर्दस्तु संगच्छते स्म ॥ २१ ॥

नासीद् यन्त्रं शब्दविस्तारकं तत्
तस्मिन् काले भारतस्यात्र वर्षे ।
किन्त्वेतस्मिन् भाषमाणे सभायां
शान्तिः सर्वत्रैव संराजतेस्म ॥ २२ ॥

प्रान्ते प्रान्ते सर्वतो भारतस्य
श्रामं श्रामं भाषणं दीयमानम् ।
श्रावं श्रावं चास्य पीयूषवाचो
लोका लोके नाद्रियन्तेऽमृतानि ॥ २३ ॥

बौद्धं ख्रैस्तं जैन माहम्मदीये
चार्वाकं वा ब्राह्मसामाजिके च ।
आलोच्यैतत् सर्वमत्यादरेण
नित्यो धर्मस्तेन संभाष्यतेस्म ॥ २४ ॥

आदिष्टः सन् सद्गुरोः पादपद्मै
र्योगीन्द्रस्यान्तर्हदेशस्तन्महर्षेः ।
आसीदेष श्रीमहामण्डलस्य
सर्वं कार्यं चालयन् सप्रमोदम् ॥ २५ ॥

गीताविर्भावस्य सत्पुण्यतीर्थे
सुप्रख्याते श्रीकुरुक्षेत्रधाम्नि ।
रम्ये गीतामन्दिरे रच्यमाने
साहाय्यं तत्राद्भुतं तेन तेने ॥ २६ ॥

सद्व्याख्याने शक्तिशाली महीयान्
धर्मप्राणो धर्मधुर्य्यो गरीयान् ।
सर्वस्मिन् यः कार्यवृन्दे महर्षे-
र्दक्षो हस्तः श्रीदयानन्द आसीत् ॥ २७ ॥

विश्वेषां यो धर्मसेवाव्रतानां
प्राणप्रेयाञ्जीवनाधार एकः ।
विज्ञानाब्धे र्लब्धजन्मा पयोदः
कालोष्माणं प्राप्य हंहो ववर्ष ॥ २८ ॥

स्वीयं धन्यं नामरूपं विहाय
चैतन्याब्धिं संप्रपन्ने च तस्मिन् ।
आत्मज्ञोऽसौ श्रीयतीन्द्रो महात्मा
शिष्यस्नेहान्म्लानतां नैव भेजे ॥ २९ ॥

पुत्रो द्वेधा विद्यया जन्मना च
श्रेष्ठश्चाद्यो यो द्वितीयः स गौणः ।
यो वै शिष्यः संविदां संविभागी
तस्याभावेऽप्यार्त्तिभृन्नैव सोऽभूत् ॥ ३० ॥

सर्वं कार्यं श्रीमहामण्डलीयं
कर्त्तुं द्रंष्टुधर्मसंरक्षणस्य ।
ब्रह्मीभूतत्वेऽप्यसौ कर्मयोगी
स्वीयं कार्यं पूर्ववत् संवितेने ॥ ३१ ॥

योगानन्दो यः परानन्दसंज्ञो
द्वावप्येतौ धर्मसञ्चारहेतोः ।
देशाद् देशं संपरिभ्रम्यमाणौ
देहत्यक्तौ कर्मयोगे निषक्तौ ॥ ३२ ॥

आनन्दोऽसौ यो विवेकेन युक्तो
विद्वानासीत् संस्तुतो देववाण्याः ।
योगीन्द्रेणाविष्कृते सौरवाचि
चक्रे साहाय्यं परं ग्रन्थराशौ ॥ ३३ ॥

विद्यादेवी साऽपि तन्मन्त्रशिष्या
तस्याः स्कन्धे भारमारोप्य सर्वम् ।
निश्चिन्तः सन् योगिनामग्रगण्यो
यावज्जीवं शास्त्रचिन्तारतोऽभूत् ॥ ३४ ॥

संस्कारा ये सन्ति जन्मान्तरीयाः
प्राप्ते काले यान्त्यवश्यं विकाशम् ।
सर्वे तेषामानुकूल्येन भावा
विश्वेषां वै जीवने संघटन्ते ॥ ३५ ॥

देवी चैषा भूमिदेवस्य वंशे
जाता धन्या धार्मिके शुद्धरूपे ।
गार्हस्थ्यात् सा बन्धनान्मुक्तिमाप्ता
काश्यां योगीन्द्रस्य पादं प्रपेदे ॥ ३६ ॥

गीतासारं यच्छ्रुतेर्ज्ञानकाण्डं
चत्वारो ये योगमार्गाः प्रसिद्धाः ।
सत्साहित्यं धर्मशास्त्रं पुराणं
श्रीमत्पादादेतया साध्वधीतम् ॥ ३७ ॥

तोषं प्राप्ते श्रीगुरौ देवदेवे
ह्यप्राप्यं किं चास्ति सेवाव्रतानाम् ।
ऐतिह्ये ते सन्ति संख्यामतीता
गुर्वाशीर्भिर्यैर्द्रुतं बोध आप्तः ॥ ३८ ॥

ज्ञानाभ्यासे सद्रुचिर्धारणार्हा
बुद्धिः स्वस्य श्रीगुरोः पादसेवा ।
तस्याशीर्वादो निजः संयमो वा
एष्वेकैकं शिष्यसाफल्यहेतुः ॥ ३९ ॥

एतेषां सत्साधनानां समेषा-
मास्ते शश्वत्संगमो यत्र शिष्ये ।
तत्सौभाग्यं सर्वतोऽभ्यर्हणीयं
सम्यग् वक्तुं कः कविः स्यात्समर्थः ॥ ४० ॥

वङ्गीमाङ्ग्लीं हैन्दवीं देववाणीं
तद्वद् विज्ञानं चाङ्कशास्त्रं तथैव ।
तत्तद्विद्भ्योऽधीत्य सद्वक्तृतां चा-
ऽध्यैष्ट प्रेम्णा श्रीदयानन्दपादात् ॥ ४१ ॥

योगीन्द्रेण प्राक्तनं कर्मराशिं
देव्याश्चास्या योगदृष्ट्या विचिन्त्य ।
गेहं त्यक्त्वा चागतेयं यदैव
विद्यानाम्ना भूषिताऽभूत्तदैव ॥ ४२ ॥

आर्यस्त्रीणां स्वीयधर्मे रतानां
कल्याणार्थं या च तद्बालिकानाम् ।
संस्था चैका स्थापिता धर्मनेत्रा
तत्कार्यं संचाल्यते चानयैव ॥ ४३ ॥

वाराणस्यामत्र मध्ये स्थितेयं
सर्वश्रेष्ठा बालिका पाठशाला
सद्भिः सौधैः प्रायशोऽभ्रंकषाढ्यैः
संपन्ना या चेतगंजे चकास्ते ॥ ४४ ॥

आर्यावर्त्ते श्रीलसत्पत्तनेषु
भ्रामं भ्रामं क्लेशकोटिं विमत्य ।
भिक्षावृत्तिं सा समाश्रित्य चैतां
शिक्षाशालां स्थापयामास साध्वी ॥ ४५ ॥

आरभ्यादिश्रेणिमत्रार्यबाला
बी. ए. पर्यन्तं लभन्ते सुशिक्षाम् ।
धर्मो नित्योऽध्याप्यते चापि नित्यं
विद्या नूनं धर्मतः शोभते हि ॥ ४६ ॥

हिन्दुस्थानादन्यतो वा बहुभ्यः
प्रान्तेभ्यश्चागत्य बालाः पठन्ति ।
वासस्थानं प्राप्य ता निर्विशङ्काः
सानन्दाश्चान्योन्यमैत्रीं भजन्त्यः ॥ ४७ ॥

स्त्रीशिक्षायाः सन् महानालयोऽयं
देव्यास्तस्याः सन्निदेशं प्रपद्य ।
एम्. ए. बी. टी. चेत्युपाधिं भजन्त्या
देव्या सुन्दर्य्याऽस्ति संचाल्यमानः ॥ ४८ ॥

गोप्तुं धर्मं श्रीमहामण्डलीया
योगीन्द्रेण स्थापिता ये विभागाः ।
स्त्रीयामोघाम्यर्हितात्सत्प्रयत्नात्
वृद्धिं नीत्वा चालिताः सन्ति देव्या ॥ ४९ ॥

यद्यप्यास्ते निश्चिता कार्यकर्त्री
संसत् तेषां कार्यसञ्चालनार्थम् ।
ज्ञाता सर्वैर्दन्तवत् सा द्विपानां
भारं सर्वं देव्यसौ संविभर्त्ति ॥ ५० ॥

सर्वश्रेष्ठो जीवनाधारभूतः
सद्ग्रन्थानां वृद्धिकर्त्ता विभागः ।
प्रेयान् योगीन्द्रस्य शास्त्रप्रकाश
आस्ते, तत्कार्यं सरीसर्त्ति चाग्रे ॥ ५१ ॥

तद्योगीन्द्राङ्घ्र्यब्ज सेवारताया
देव्या एतस्याः प्रशस्यात् प्रयत्नात् ।
नित्यं नित्यं नव्यनव्या वरेण्याः
सद्ग्रन्थाः संयान्ति लोके विकाशम् ॥ ५२ ॥

दिल्लीपुर्य्यां संगतायां सभायां
हिन्दूकोडाख्यं विधानं विधातुम् ।
दत्तं देव्या तद्विरोधाय नैजं
व्याख्यानं तत्कर्णपेयं सुधीभिः ॥ ५३ ॥



श्रीभारतधर्ममहामंडलसंस्थापकानां कर्ममीमांसादैवीमीमांसाविप्कर्त्तृणां योगदर्शनादि—
भाष्यकाराणां भगवतां ११०८ स्वामिनां श्रीमतां ज्ञानानन्दमहाराजप्रभूणां
स्मृतिमन्दिरे भगवतःभूतभावनस्य मन्दिरे प्रतिष्ठापिता
[सं० २०२१ वैक्रमाब्दे] श्वेत प्रस्तरप्रतिमा



अग्रे भूम्यां श्रीमहामण्डलस्य
चातुष्पथ्ये काशिकामध्यकेन्द्रे ।
रम्यं चैकं मन्दिरं श्रीविशालं
शोभाढ्यं सच्चत्वरं चारचय्य ॥ ५४ ॥

सा गायत्री, श्रीः, सनारायणश्च
साकं पार्वत्या शिवः श्रीगणेशः ।
वायोः पुत्रः, स्थापिताः सन्ति चैते
शुभ्रा मूर्त्तिश्चापि रम्या महर्षेः ॥ ५५ ॥

एतेषां संस्थापितानां सुराणा-
मह्नो मध्ये मध्यरात्राच्च पूर्वम् ।
नित्यं नव्या भोगरागव्यवस्था
प्रातः सायं चास्ति नीराजनं च ॥ ५६ ॥

पूजासेवासंरता ये मनुष्याः
सानन्दं संभुञ्जते ते द्विवारम् ।
नानास्वादान् देवताभ्योऽर्पितांस्तान्
रस्यान् स्निग्धान् मिष्टमिश्रान् प्रसादान् ॥ ५७ ॥

निष्कामा या धर्मसेवासुदक्षा
सत्यज्ञानानन्दपादाप्ततृप्तिः ।
विद्यादेवी श्रीयुता शुभ्रकीर्त्ति-
र्दीर्घं जीव्यात् स्वास्थ्यसम्पत्प्रपन्ना ॥ ५८ ॥

विद्याशिष्या ये महर्षेः सहस्रं
विद्यन्ते तन्नामसंकीर्त्तनं वै ।
नास्ते शक्यं, किन्तु तेष्वत्र केचि-
न्निर्दिश्यन्ते स्मर्यमाणाः सुधीन्द्राः ॥ ५९ ॥

प्रायोऽलभ्यं सुप्रसिद्धं महार्दि
विद्वत्सम्मान्यं महोपाधिमेतम् ।
विभ्रद्धीमानन्नदापादनामा
विख्यातो यस्तर्कचूडामणीन्द्रः ॥ ६० ॥

न्यायः काणादं च योगश्च सांख्यं
मीमांसे द्वे व्याससूत्राणि चैव ।
अध्यैष्टासौ वन्द्ययोगीन्द्रपादा-
दन्योन्यैतद् द्वन्द्वराहित्यपूर्वम् ॥ ६१ ॥

विद्वद्वयोऽप्यावृत्तयो दर्शनानां
दृश्यं तत्तद् दर्शनज्ञानचित्रम् ।
नैके ग्रन्थाश्चारचय्यप्रकाशं
नीतास्तेन श्रीमहर्षेर्निदेशात् ॥ ६२ ॥

धर्मग्लानिं राजपक्षात्प्रपन्नां
नैतां सेहे तद्विरोधे मनस्वी ।
सत्सम्मानादाङ्लसम्राट्प्रदत्तं
तं चोपाधिं त्यक्तवान् यो विपश्चित् ॥ ६३ ॥

वेदान्ते यो नूतनं शक्तिभाष्यं
विद्वत्सेव्यं चारचय्याप्रमेयम् ।
अद्वैतादीन् सर्ववादान् निरस्यन्
शक्तिं चैकां सर्वमान्यां न्यगादीत् ॥ ६४ ॥

स्वस्मिन् काले भारतेऽस्मिन् समस्ते
प्रख्यातो यः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः ।
विज्ञानाब्धिस्तर्करत्नाभिधानो
धर्मप्राणो विज्ञपञ्चाननोऽपि ॥ ६५ ॥

कालेकाले श्रीमुनीन्द्रस्य पादं
प्राप्य स्वेषां संशयानां सहस्रम् ।
उन्मूल्यासौ यत्नतस्तत्समूलं
सान्द्रानन्दां चित्तशान्तिं प्रपेदे ॥ ६६ ॥

नैके चान्ये सन्ति शिष्यप्रशिष्या
योगीन्द्राद् येऽधीतवन्तो बुधेन्द्राः ।
द्वारैतेषां प्रोक्तसद्ग्रन्थराशे-
र्नामान्याख्यातुं क ईशो बुधः स्यात् ॥ ६७ ॥

खाभ्राभ्रयुग्ममितवैक्रमवत्सरे तां
कृष्णाष्टमीं तिथिमहोशुभदां प्रशस्ताम् ।
आरभ्य संग्रथितुमेतदहं प्रवृत्तः
किन्त्वन्तरा निपतिता बहवोऽन्तरायाः ॥ ६८ ॥

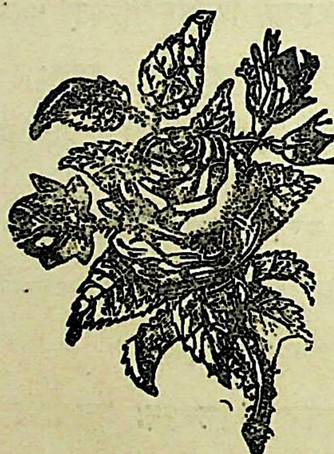
प्रत्युद्गता वत यदा च यदा च काले
विघ्नाः शतानि मम मानसयागनिघ्नाः ।
श्रीमन्महर्षिचरणस्मरणाग्निमध्ये-
ऽभूवन् करालवपुषः शलभायितास्ते ॥ ६९ ॥

विन्ध्येश्वरीतिपदसंवलितः प्रसादः
सारण्यमण्डलविलासपुरस्य वासी ।
मिश्रो महर्षिपदपङ्कजचञ्चरीक-
स्तेनास्ति संनिगदितं चरितं महर्षेः ॥ ७० ॥

विमलचरितमेतत् कुम्भशुक्लत्रितिथ्यां
त्रिपुरहरनगर्य्यां स्वर्णदीपुण्यतीरे ।
कुनयनखभुजाढ्ये वत्सरे विक्रमस्य
शिवसहितशिवायाः पूर्तिमागात्प्रसादात् ॥ ७१ ॥

इति श्रीकविवर्यविन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रि विरचिते
महर्षिज्ञानानन्दचरिते महाकाव्ये
त्रयोविंशः सर्गः ॥

॥ समाप्तं चेदं महर्षिचरितम् ॥



श्रीभारतधर्म महामण्डलके संस्थापक

भगवत्पूज्यपाद महर्षि श्री १९०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज प्रभुको

समाधिमें

महर्षि भरद्वाजसे प्राप्त—कर्ममीमांसादर्शन (पूर्वार्द्ध)

तथा

महर्षि अंगिरासे प्राप्त—दैवी मीमांसादर्शन (मध्यमीमांसा)

भारतीय सप्तदर्शनोंकी परम्परासे कालप्रवाहके कारण

विलुप्त उक्त दोनों दर्शनोंका आविष्कार

ज्ञानकी सात भूमिकायें	तदनुसार सात दर्शन	दर्शनकार महर्षि
१—ज्ञानदा	न्याय दर्शन	महर्षि गोतम
२—सन्यासदा	वैशेषिक	,, कणाद
३—लीलोन्मुक्ति	सांख्य	,, कपिल
४—योगदा	योग	,, पतंजलि
५—सत्पदा	कर्ममीमांसा (पूर्वार्द्ध)	,, भरद्वाज
	कर्ममीमांसा (उत्तरार्द्ध)	,, जैमिनि
६—आनन्ददा	दैवीमीमांसा दर्शन	,, अंगिरा
७—परात्परा	उत्तरमीमांसा दर्शन (वेदान्त)	,, व्यास

महर्षि जैमिनिकृत मीमांसा केवल यज्ञयागादि वर्णनकेकारण उत्तरार्द्ध मात्र है—इसका पूर्वार्द्ध प्राप्तकर कर्ममीमांसा दर्शनको पूर्ण बनाना चाहिये तथा वेदके कर्म, उपासना तथा ज्ञान कांडोंके आधारपर उपासना संबन्धी लुप्त दर्शनका आविष्कार होना चाहिये, तभी यथार्थ रहस्य अभिव्यक्त होंगे; इसविचारसे श्री १९०८ देशिकेन्द्रशिरोमणि पूज्यश्रीजी महाराज प्रभुने महर्षि भरद्वाज और महर्षि अंगिरासे समाधिद्वारा सम्पर्क स्थापितकर उक्त दर्शनोंको यथावत् प्राप्त किया।

वर्णाश्रम शृंखलाकी कर्ममर्यादा और उपासना सिद्धान्तको

स्थिर करनेवाले उक्त महान् प्रकाशन

श्रीभारतधर्म महामण्डलके शास्त्रप्रकाश-विभागके

जिज्ञासुओंके आश्रय और दर्शनके विद्यार्थियोंके ज्ञानवर्द्धक

गौरव ग्रन्थ

आज ही मँगानेका आदेश प्रेषित करें।

पुस्तक प्राप्तिका पता :—

श्रीभारतधर्म महामण्डल, शास्त्रप्रकाश विभाग

प्रधान कार्यालय—जगतगंज, वाराणसी कैण्ट